श्रीमते रामानुजाय नमः ।। श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

।। हिन्दी श्रीभाष्य ।।

[षष्ठ भाग]

सम्पादक:-
जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र
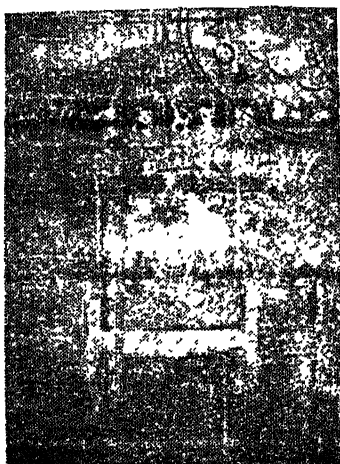
स्वामी रामनारायणाचार्यजी
महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

साहित्य वेदान्ताचार्य; एम० ए० (द्वय)

वेदान्त विभागाध्यक्ष; श्रीहनुमत् सं० म० विद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति	मूल्य	श्रीरामनवमी
१०००	४) रुपये	२०३५ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक

-:(समर्पण):-

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठा[illegible]चार्य
सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ पट्ट सिंहासनाधि[illegible]त श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय

श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की महामाला के इस षष्ठ पुष्प से २०३५ वर्षीय श्री रामनवमी के पावन पर्व पर श्रीमत्क श्री चरणों को समलङ्कृत करने का साहस इस विश्वास से कर रहा हूँ कि श्रीमान अपनी वस्तु को इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्कपदपद्मपराग लिप्सु श्रीधराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी
श्याम सदन कटरा, अयोध्या (उ० प्र०)

❀ श्रीरस्तु ❀

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमद्वरवरमुनये नमः ।

श्रीवादिभीकरमहागुवे नमः ।

श्रीमदुभयवेदान्ताचार्यैः न्यायव्याकरणशिरोमणिभि र्विद्याभूषणैः तिरुमाडभूर प्रतिवादिभयङ्कराण्णङ्गराचार्यस्वामिमहाभागैः श्रीवृन्दावन श्री रङ्गमन्दिरास्थानविद्वद्भिरनुगृहीतं

हिन्दीश्रीभाष्यप्रकाशनाभिनन्दनम्

श्रीभाष्य हिन्द्यनुवादं क्रमशः प्रकाश्यमानमवलोक्य मोमुद्यामहे। भागपञ्चकं यावदद्य प्रकाशितं दृष्टिपथातिथीं बभूवास्माकम्। आशास्महे च नितरां यदेवमेवाखिलग्रन्थोऽयचिरेण क्रमशः प्रकाशितो भूत्वा कार्त्स्न्येन सहृदयानां विद्वन्मणीनां हृदयान्यानन्दरसभरितानि विदध्यादिति। यद्यपि सन्त्येव द्वित्राः श्री भाष्यस्य हिन्द्यनुवादाः प्रकाशिताः; तथापि तान् सर्वानतिशेते प्रकृतोऽयं हिन्दी श्रीभाष्यनामकः प्रबन्धः। यतोऽत्र श्रीभाष्य मूलग्रन्थानुवादपूर्वकं तत्र तत्र विषमस्थले श्री भाष्याशयाविष्करणचणं विवरणमपि श्रुतप्रकाशिकाधारेण कृतमस्ति श्रीमताऽनुवादकमहाभागेन प्रकृतग्रन्थानुवादकरणसौभाग्यभाक् च सुगृहीतनामधेयः श्रीधराचार्यः साहित्य वेदान्ताचार्यः, एम. ए. द्वयपदवी विभूषितः, योऽयं श्रीमदयोध्यास्थ हनुमान गढ़ी श्री हनुमत्संस्कृतमहाविद्यालय वेदान्तवि-

भागाध्यक्षपदमलङ्कुर्वाणो वरीवर्ति। यद्यपि साहसमिदं कर्म, यत् श्रीभाष्ययथावस्थितार्थ वर्णनात्मकानुवादकरणम्। अल्पप्रज्ञैरल्पसत्त्वैश्च दुःसाधमिदं सत्यम्। अथाऽपि स्वाचार्यचरणानां परमयोगिराजानां श्रीमज्जगद्गुरु श्रीमदनन्त पादीय श्रीविष्वक्सेनार्ययति परिवृढानां कृपावलम्बनमेव मुख्यमुपकरणमवलम्ब्य प्रवर्तमानोऽस्मदनुवादकमहाशयोऽचिरादेव समग्रमिदं महत् कार्यं संसाध्य कृतकृत्यो यशस्वी भवितेति विश्वसिमो वयम्।

प्रकाशनस्यास्य सर्व प्रकारेण सहयोग प्रदातारश्च विराजन्ते श्रीनदयोध्या कटरास्थान स्थित श्री कोसलेश सदनाध्यक्षाः त्रिदण्डि श्रीमद्विष्वक्सेनार्य यतिपरिवृढ़परमकृपापात्रभूताः गृहीतपारमहंस्याः उभयवेदान्तमर्मज्ञाः जगद्गुरुपदमलङ्कुर्वाणाः श्री रामनारायणाचार्य यतिवराः श्रीमद्योगिराजकृपाबलं श्री जगद्गुरुवर सहयोगं चावलम्ब्य प्रवर्तमानमिदं प्रकाशनमचिरेण परिपूर्णं भूयादित्याशास्महे ।। संयोजयामश्च शुभाशीर्भिः अनुवादक महाशयमेनमेवमेव श्रीसम्प्रदायप्रवर्तन प्रसारण कैङ्कर्योपयुक्तं निरवधिक श्रीसम्पत्समृद्धियुक्तो भूयादिति अनुवादक महाशयश्चायं सत्यं धन्यवादार्हः। प्रकाशनमेतद्विराजतामिति च हार्दिकमस्माकमभिनन्दनम् ।। ।। इति श्रीः ।।

श्री वैष्णवदासः

श्री रामनवमी विद्याभूषणं तिरुनांगूर प्र. भ. अण्णङ्गराचार्यः,
श्रीसंवत् २०३५ श्रीरङ्गमन्दिरास्थान विद्वान्, वृन्दावनम्

—:०:—

पूर्वाभास

कृपामूम्नायेषामपि जगतिहीनोऽपि पुरुषः
परां काष्ठां कीर्तेः कलयति विनायासमतनोः
दयांकुर्युरद्धा मयि सकलदोषाकरजने
यतीन्द्रास्ते नित्यं परमगुरवोऽन्नार्यचरणाः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य का यह छठा भाग निवर्तकानुपपत्ति से आरम्भ होकर शास्त्रयोनित्वाधिकरण के साथ समाप्त हुआ है। निवर्तकानुपपत्ति में भगवान् श्री रामानुजाचार्य ने यह बतलाया है कि शास्त्र जन्य ज्ञान ब्रह्म व्यतिरिक्त होने के कारण अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता है। किञ्च यदि शास्त्र ज्ञान को अविद्या का निवर्तक मान भी लिया जाय तो फिर उस ज्ञान का निवर्तक ज्ञान कौन होगा ? अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि, जिस तरह अरण्य में लगी हुई आग सम्पूर्ण इन्धन को जलाकर स्वयं नष्ट हो जाती है। उसी तरह शास्त्र जन्य ज्ञान सम्पूर्ण अविद्या को निवर्तित करके ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। तो इसका खण्डन श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कह कर किया है कि वनाग्नि इन्धन को जलाकर स्वयं नष्ट नहीं हो जाती, बल्कि महाग्नि में मिल जाती है।

निवर्त्यानुपपत्ति की चर्चा करते हुए आपने यह बतलाया कि शास्त्रन्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति असंभव है। उसके

बाद आप ने जिज्ञासाधिकरण के पूर्वपक्ष के रूप में शास्त्रों के कार्यार्थमात्र के प्रतिपादकत्व का खण्डन करके वेदान्त वाक्यों के सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादकत्व का समर्थन किया है। इसके पश्चात आपने जन्माद्यधिकरण में यह बतलाया है कि 'यतो वा इमानि' श्रुति में प्रतिपादित जगज्जन्मादि ब्रह्म के लक्षण ही हैं।

शास्त्रयोनित्वाधिकरण में आपने मीमांसकों के इस कथन का खण्डन किया है कि परब्रह्म की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकरण में आपने नैयायिकों के [illegible] करके परब्रह्म के शास्त्रप्रमाणकत्व का प्रतिपादन किया है। इसबात को चर्चा पहले की जा चुकी है कि श्रीभाष्य और श्रुत प्रकाशिका टीका की रक्षा श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी ने जानों की बाजी लगाकर कीथी। श्री वेदान्त देशिक स्वामी जी के जीवन चरित्र की चर्चा षष्ठ खण्ड में की जायेगी।
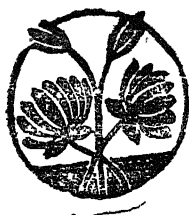
श्रीवैकुण्ठनाथ देवस्थान मन्दिर
चरित्रवन बक्सर, भोजपुर (बिहार)

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य

(षष्ठ भाग)

कवितार्किकसिंहाय कविताबनचारिणे ।
श्रीमते वेङ्कटेशाय वेदान्तगुरवे नमः ॥

निवर्तकानुपपत्तिः

मू०—यदुक्तम्—निर्विशेषब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्ति वदन्ति श्रुतय इति । तदसत्—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय ।" (तै० आ० आ० में पु० सू० ३।१२) 'सर्वेनिमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।' (तै० आ० ६ प्र० ना० अ० १।८) न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः (१।९) 'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।" (१।१०) इत्याद्यनेकवाक्यविरोधात् । ब्रह्मणः सविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषज्ञानादेव मोक्षं वदन्ति । शोधक-

वाक्यान्यपि सविशेषमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्युक्तम् ।

अनु०—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि-निर्विशेष ब्रह्म के ही विज्ञान से श्रुतियाँ अविद्या की निवृत्ति को बतलाती है । तो उनका यह कथन उचित नहीं है । ऐसा मानने पर निम्न प्रकार के अनेक वाक्यों से विरोध होगा । उनमें से एक वाक्य बतलाता हैं) वेदाहमेतम् इत्यादि । इसका अर्थ है कि-मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ । अन्धकार लेश से भी जिसका संस्पर्शतक नहीं हुआ है तथा जिसका वर्ण आदित्य के समान देदीप्यमान् हैं । इस प्रकार से विग्रह विशिष्ट उस भगवान् नारायण को जानने वाला मुमुक्षु उपासक इसी लोक में मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं । उस मंगलमय विग्रह विशिष्ट परमात्मा के ज्ञान से भिन्न कोई मार्ग शाश्वत निलय (मोक्ष) के लिए नहीं है । सर्वे निमेषा० इत्यादि—श्रुति बतलाती है कि उस विद्युत् के समान देदीप्यमान (विग्रह विशिष्ट भगवान् से ही सभी निमेष आदि कालों की उत्पत्ति हुई है । न तस्येशे० इत्यादि श्रुति बतलाती है कि उस परम पुरुष का कोई भी नियामक नहीं हैं । उस परमात्मा का नाम और यश महान् है । य एनं विदुः इत्यादि श्रुति बतलाती है कि जो उक्ताकार विशिष्ट परमात्मा को जानते हैं वे मुमुक्षु जीव मुक्त हो जाते हैं ।

इन सभी वाक्यों के अध्ययन से पता चलता है कि चूँकि ब्रह्म सविशेष ही है अतएव ही ब्रह्म के सविशेषत्व ज्ञान को सभी श्रुतियाँ मोक्ष का साधन बतलाती हैं । पहले मैं यह भी

कह चुका हूँ कि शोधक वाक्य (ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट रूप से निरूपण करने वाले वाक्य) भी ब्रह्म को विशेषण विशिष्ट रूप से ही बतलाते हैं ।

॥ तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ का विचार ॥

सू०—तत्त्वमस्यादिवाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्विशेषवस्त्वैक्यपरम्, तत्त्वम् पदयोः सविशेष ब्रह्माभिधायित्वात् । तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति, 'तदैक्षत् बहुस्याम्' इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात् तत्समानाधिकरणं त्वम्पदञ्च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति । प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तु परत्वात् सामानाधिकरण्यस्य । प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्तिनिमित्तभेदासम्भवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात् द्वयोः पदयोर्लक्षणा च । 'सोऽयं देवदत्त' इत्यत्रापि न लक्षणा, भूतवर्तमान कालसंबन्धितयैक्य प्रतीत्यविरोधात् । देशभेदविरोधश्च कालभेदादेव परिहृतः । 'तदैक्षत बहुस्याम्' इत्युपक्रमविरोधश्च । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च न घटते । ज्ञानस्वरूपस्य निरस्तनिखिलदोषस्य सर्वज्ञस्य सर्वकल्याणगुणात्मकस्याज्ञानं तत्कार्यानन्तापुरुषार्था-

श्रयत्वञ्च भवति । वाधार्थत्वे च सामानाधिकरण्य-स्य त्वंतत्पदयोरधिष्ठान लक्षणा निवृत्तिलक्षणाचेति लक्षणादयस्त एव दोषाः ॥

अनुवाद-यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि तत्त्वमसि आदि सामानाधिकरण्यगत अन्यथानुपपत्ति के द्वारा निर्विशेषवस्तु की सिद्धि हो जाती है तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि तत्त्वमसि आदि वाक्यों में रहने वाला सामानाधिकरण्य निर्विशेष वस्तु की एकता का प्रतिपादन नहीं करता है। क्यों कि तत्त्वमसि वाक्यगत तत् एवं त्वम् पद सविशेष ब्रह्म का ही अभिधान करते हैं। इस श्रुति का तत् पद सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प तथा जगत् के कारणभूत ब्रह्म को बतलाता है, क्योंकि 'तदैक्षत बहुस्याम्' इत्यादि श्रुतियों में वही प्रकरण प्राप्त है। और उसके समान ही अधिकरण में रहने वाला त्वम् पद भी अचेतन (प्रकृति) से विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। इस तरह से यह सामानाधिकरण्य वाक्य दो प्रकार वाले एक ही वस्तु का प्रतिपादन करता है। इन दोनों प्रकारों का परित्याग कर देने पर तो पदों के प्रवृत्ति निमित्त में कोई भेद ही नहीं हो पायेगा फलतः सामानाधिकरण्य का ही त्याग हो जायेगा। (क्योंकि एक ही अर्थ के प्रतिपादक विभिन्न पदों के प्रवृति निमित्त में भेद होने पर ही सामानाधिकरण्य होता है।) किञ्च दोनों प्रकारों का परित्याग करने पर दोनों पदों (तत् एवं त्वम्) में लक्षणा स्वीकार करनी होगी।

'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में भी लक्षणा नहीं है। (क्योंकि जहाँ पर मुख्यार्थ से प्रतीति का विरोध होता है वहाँ पर तात्पर्यानुपपत्ति होने के कारण लक्षणा स्वीकार की जाती है। यहाँ पर तो) वस्तु देवदत्त) के एक होने पर भी उसका भूत एवं वर्तमान इन दो कालों से सम्बन्ध होने के कारण प्रतीति का कोई विरोध नहीं है। देश के भेद का विरोध काल के भेद से समाप्त हो जाता है। (अर्थात् सोऽयं देवदत्तः वाक्य का अर्थ है कि जिस देवदत्त को मैं वर्तमान देश और काल में देख रहा हूँ उसी देवदत्त को मैंने अतीत काल में तथा अतीत देश में देखा था। एक ही देवदत्त को भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न देश में रहना कोई विरोधी बात नहीं है।)

किञ्च- यदि तत्त्वमसि वाक्य द्वारा निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन स्वीकार किया जाय तो फिर उसका 'तदैक्षत बहुस्याम्' इत्यादि इस प्रकरण के उपक्रम वाक्यों से विरोध होगा। किञ्च- इस वाक्य को निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादक माना जाय तो फिर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा की सिद्धि नहीं हो सकती है। यही नहीं ज्ञानस्वरूप अखिल हेय प्रत्यनीक सर्वज्ञ तथा समस्त कल्याण गुणवान परब्रह्म में अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यभूत अनन्त अपुरुषार्थों के आश्रयत्व आदि को भी स्वीकार करना होगा। अगत्या यदि अद्वैती विद्वान् यहाँ सामानाधिकरण्य बाधार्थ में भी स्वीकार करें तो भी सामानाधिकरण्य के तत् पद में अधिष्ठान लक्षणा और त्वम् पद में निवृत्ति लक्षणा आदि वे ही दोष बने रहेंगे।

टिप्पणी–अद्वैती विद्वान् शोधक वाक्यों में चार प्रकार का सामानाधिकरण्य स्वीकार करते हैं। (1) अतद् व्यावृत्तिमुखेन वस्त्वैक्य के प्रतिपादक सामानाधिकरण्य। इस अतद्व्यावृत्ति को अद्वैती विद्वानों ने बौद्धो से लिया है। बौद्धो ने जिसे अपोह कहा उसे ही अद्वैती विद्वानो ने दूसरे शब्दो मे अतद् व्यावृत्ति कहा है। अतद् व्यावृत्ति को तद् भिन्न-भिन्नत्व भी कहा जा सकता है। दश घट व्यक्तियो मे 'घटः घटः' इसप्रकार को एकाकार जो प्रतीति होती है उसका कारण नैयायिको के मत में घटत्व सामान्य है। नैयायिको का सामान्य एक नित्य पदार्थ है। उनके सामान्य का लक्षण है- नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्। परन्तु बौद्धों का पहला सिद्धान्त क्षणभङ्गवाद है। उनके मत में सारे पदार्थ क्षणिक है– अतएव वे सामान्य जैसे किसी नित्य पदार्थ को नहीं मानते है। वे सामान्य के स्थान पर अनुगत प्रतीति का कारण अपोह को मानते है जिसका अर्थ अतद् व्यावृत्ति या तद् भिन्न-भिन्नत्व है। इस तरह दश घटो मे जो 'घटः घटः' यह सामानाकारक प्रतीति है उसका कारण अघट (घट भिन्न पट आदि की) व्यावृत्ति अथवा घटभिन्न-भिन्नत्व है। प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटभिन्न सारे जगत् से भिन्न है, अतएव उनमें घटःघटः इस प्रकार की समानाकार प्रतीति होती है।

अद्वैती विद्वानो का भी कहना है कि कुछ सामानाधिकरण्य वाक्य त [illegible] से वस्त्वैक्य का प्रतिपादन किया करते हैं।

२–तत्त्वमसि आदि वाक्य मे जीव ब्रह्म के सामानाधिकरण्य

अन्वय के द्वारा उपलक्षित वस्तु की एकता का प्रतिपादन करता है।

३—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिवाक्यों में जड और ब्रह्म के बीच अतात्त्विकरूप से आरोप के द्वारा सामानाधिकरण्य है और ४—ज्योतिषि विष्णुः इत्यादि वाक्यों में बाधार्थ सामानाधिकरण्य है।

तत्त्वमसि आदि वाक्य में लक्षणयोपलक्षित वस्त्वैक्य के प्रतिपादक सामानाधिकरण्य की चर्चा करते हुए अद्वैती विद्वा-नों का कहना है कि तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य को बतलाता है और त्वम् पद अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य को बतलाता है। इसवाक्य के द्वारा सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट एवं अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य की एकता बतलायी जाती है। किन्तु सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट एवं अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट दोनों की एकता कैसे संभव है? अतएव यहाँ पर भाग त्याग लक्षणा प्रवृत्त होती है। और उस भागत्याग लक्षणा के द्वारा सर्वज्ञत्वादि एवं अल्पज्ञत्वादि रूप विशेषणों का त्याग हो जाता है। केवल चैतन्य मात्र ही अवशिष्ट रह जाता है। उन दोनों की एकता हो जाती है।

तत्त्वमसि वाक्य में उसी तरह से भागत्याग लक्षणा की प्रवृत्ति समझना चाहिये जिस तरह 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में लक्षणा होती है। क्योंकि 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में सः पद अतीत देश कालावच्छिन्न देवदत्त को बतलाता है और अयम्

पद वर्तमान देशकालावच्छिन्न देवदत्त को बतलाता है। चूँकि एक ही देवदत्त अतीत देश कालावच्छिन्न एवं वर्तमान देश कालावच्छिन्न नहीं हो सकता है, अतएव यहाँ पर भागत्याग लक्षण के कारण अतीत देश कालावच्छिन्नत्व तथा वर्तमान देश कालावच्छिनत्व रूप विशेषणों का त्याग हो जाता है और केवल देवदत्त ही बच जाता है जिसकी एकता इस सामानाधिकरण्य वाक्य के द्वारा होती है।

श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य का कहना है कि तत्त्वमसि वाक्य का तत् पद सर्वज्ञ, तथा सत्य संकल्प ब्रह्म को बतलाता है तथा त्वम् पद प्रकृति विशिष्ट जीव शरीरक ब्रह्म का अभिधान करता है। इस तरह भिन्न भिन्न प्रवृत्ति निमित्त वाले तत् एवं त्वम् दोनों पद सविशेष ही ब्रह्म का अभिधान करते हैं। यदि दोनों आकारों का परित्याग हो जायेगा तब फिर इस वाक्य में सामानाधिकरण्य का लक्षण ही नहीं घटेगा। अतएव इस वाक्य में सामानाधिकरण्य की सुरक्षा हेतु पदों में लक्षणा नहीं स्वीकार करनी होगी।

'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में भी लक्षणा स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यद्यपि एक वस्तु समानहीं काल में भिन्न देशों में नहीं रह सकती किन्तु उसके भिन्न कालों में भिन्न देशों में रहने में कोई विरोध नहीं है। अतएव विरोध के अभाव में लक्षणा स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान स्वरूपस्य–इत्यादि वाक्य के द्वारा यह बतलाया गया है कि वेदों में ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप, अखिलहेय प्रत्यनीक, समस्त कल्याण गुणाकर स्वीकार किया गया है। आपकी प्रक्रिया को

अपनाने पर ब्रह्म में अज्ञान एवं अज्ञान जन्य अनन्त अनर्थों व आश्रय उसे मानना होगा अतएव तत्त्वम स वाक्य में अन्वयमुखोपलक्षित सामानाधिकरण्य को वस्त्वैक्य परक नहीं माना जा सकता है।

यदि आप यह कहें कि यहाँ पर वाध र्थ में सामानाधिकरण्य है। तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ऐसा भी मानने पर इस सामानाधिकरण्य वाक्य के तत् पद में अधिष्ठान लक्षणा, और त्वम् पद में निवृत्तिलक्षणा अथवा त्वम् पद में अधिष्ठान लक्षणा और तत् पद में निर्वृत्ति लक्षणा स्वीकार करनी होगी। यही नहीं सामानाधिकरण्य के लक्षण की हानि, तथा एक-विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा की हानि एवं दुसरी श्रुतियो से विरोध भी होगा। यदि कहें, रज्जु-सर्प इत्यादि स्थल में फिर कैसे सामानाधिकरण्य होता है ? तो इसका उत्तर है कि उक्त स्थल में सामानाधिकरण्य है ही नही। सामानाधिकरण्य तो वहाँ ही होता है जहाँ पर किसी एक विशेष्य के दो प्रकार के विशेषण बताये जायँ ! यदि वाध के लिए वाक्य के दोनों पदो का मुख्यार्थ मानाजाय तो वहाँ भी सामानाधिकरण्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

मूल—इयांस्तु विशेषः—नेदं रजतमितिवदप्रतिपन्नस्यैव वाधस्यागत्या परिकल्पनम्। तत्पदेनाधिष्ठानातिरेकिधर्मानुपस्थापनेन बाधानुपपत्तिश्च। अधिष्ठानन्तु प्राक् तिरोहितमतिरोहितस्वरूपं तत्पदेनोपस्थाप्यत इति चेन्न;

प्रागधिष्ठानाप्रकाशे तदाश्रयभ्रमबाधयोरसम्भवात् । भ्रमाश्रयमधिष्ठानमतिरोहितमितिचेत् तदेवाधिष्ठान-स्वरूपं भ्रमविरोधीति तत्प्रकाशे सुतरां न तदाश्रय भ्रमबाधौ; अतोऽधिष्ठानातिरेकि पारमार्थिकधर्मतत् तिरोधानानभ्युपगमे भ्रान्ति बाधौ दुरुपपादौ । अधि-ष्ठानेहिपुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमा-र्थिके राजत्वे तिरोहिते सत्येव व्याधत्वभ्रमः । राज–त्वोपदेशेन च तन्निवृत्तिर्भवति; नाधिष्ठानमात्रोपदेशेन; तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात् भ्रमानुपमर्दित्वाच्च ।

अनुवाद–(उपलक्ष्य सामानाधिकरण्य मानने की अपेक्षा बाधार्थ सामानाधिकरण्य मानने में यह विशेषता है कि–) जिस तरह शुक्तियों में रजत का भ्रम होने पर प्रमाणान्तर के द्वारा यह रजत नहीं शुक्ति है, इस प्रकार का ज्ञान होने पर रजत के बाध की कल्पना करनी पडती है, उसी तरह तत्त्वमसि में भी यद्यपि बाध की प्रतीति नहीं होती है, फिर भी अगत्या उसकी कल्पना करनी होगी । (यह पहला दोष होगा । दूसरा दोष यह होगा कि–) तत् पद के द्वारा अधिष्ठान से भिन्न धर्म का उपस्थापन नहीं करने के कारण बाध की अनुपपत्ति भी होगी । (कहने का आशय है कि शुक्ति रेव रजतम् यहाँ पर शुक्तित्वरूप विरुद्ध धर्म को शब्द ही उपस्थापित करता है अतएव यहाँ पर बाध की

कल्पना उचित है। तत्त्वमसि वाक्य में तो अधिष्ठान मात्र को लक्षित करने वाला तत् पद शुक्तित्व के समान विरुद्ध धर्म को उपस्थापित नहीं करता है। अतएव यहाँ बाध की कल्पना अनुचित होगी; यह दूसरा दोष होगा।)

यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि– अधिष्ठान तो पहले तिरोहित रहता है, तत् पद उसका अतिरोहित स्वरूप से उपस्थापित करता है। (अप्रकाशित विरोधी प्रकाश की कल्पना ही बाध की कल्पना कहलाती है। यह कोई नियम नहीं है कि धर्मोपस्थापन को बाध की कल्पना मानी जाय। अतः कहने का आशय है कि– तत् पद के द्वारा पहले अप्रकाशित विरोधी अधिष्ठान के स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण बाध की कल्पना होती है।) तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि पहले यदि अधिष्ठान का स्वरूप नहीं प्रकाशित है तो फिर उसको आश्रय बनाकर होने वाले भ्रम और उसके बाध ही सम्भव नहीं हैं। यदि कहें कि भ्रम का आश्रय होने वाला अधिष्ठान तिरोहित नहीं होता है, तो मैं यह कहता हूँ कि अधिष्ठान का वह स्वरूप ही भ्रम का विरोधी है अतएव उसके प्रकाशित होते रहने पर उसको आश्रय बनाकर भ्रम और बाध संभव नहीं हैं। अतएव अधिष्ठान से भिन्न कोई धर्म और उसका तिरोधान स्वीकार किये बिना भ्रम और उसके बाध की सिद्धि संभव ही नहीं है। पुरुष मात्रकार रूप अधिष्ठान के प्रतीत होते रहने पर उससे भिन्न राजत्व रूप पारमार्थिक धर्म के तिरोहित जाने पर ही, राजकुमार को व्याधत्व का भ्रम होता है। और राजत्व का

उपदेश होने पर व्याधत्व की निवृत्ति होती है, अधिष्ठानमात्र के उपदेश द्वारा नहीं। क्योंकि वह तो प्रतीत ही हो रहा है, अतएव उसका उपदेश देने की कोई अवश्यकता नहीं है, और अधिष्ठान भ्रम का निवर्तक भी नहीं है।

टिप्पणी—अधिष्ठाने हि—इत्यादि वाक्य के द्वारा भगवान् भाष्यकार को अद्वैती विद्वानों के—"राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ, व्याधभावो निवर्तते। यथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादि वाक्यतः।" इत्यादि कारिका द्वारा संकेतित उस राजकुमार के दृष्टान्त का खण्डन करना अभिप्रेत है, जो राजगृह से भूलकर व्याधों के बीच में आकर पला था और युवक होकर अपने को व्याध ही समझ रहा था। उसको जानने वाले आचार्य जब आकर यह बतलाते हैं तुम व्याध नहीं राजकुमार हो। उसे अपने [illegible] का ज्ञान होते ही, व्याधत्व का भ्रम समाप्त हो जाता है। अद्वैती विद्वानों का कहाना है कि इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्यों का ज्ञान होते ही आत्मा के अज्ञत्व के भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ पर श्री भाष्यकार का कहना है कि राजकुमार से भिन्न उसका राजत्व धर्म है, उसीको व्याधत्व भ्रम तिरोहित करता है। और राजत्व का ज्ञान होने पर व्याधत्व भ्रम की निवृत्ति होती है। अद्वैत सिद्धान्त में आत्मा का ज्ञान धर्म नहीं है अतएव उसके तिरोधान और तत्त्व मसि वाक्य के अर्थ ज्ञान द्वारा उसकी निवृत्ति की बात अनुचित है।

मू०—जीवशरीरकजगत्कारणब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयम् । प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यम् च सिद्धम् । निरस्त निखिल दोषस्य समस्तकल्याण-गुणात्मकस्य ब्रह्मणो जीवान्तर्यामित्वमप्यैश्वर्यमपरं प्रतिपादितं भवति, उपक्रमानुकूलता च , एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपत्तिश्च, सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीर-स्यैव ब्रह्मणः स्थूल चिदचिद् वस्तुशरीर त्वेन कार्यत्वात्— 'तमीश्वराणं परमं महेश्वरम्' (श्वे० ६।७) 'परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते' (श्वे० ६।८) 'अपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसंकल्प (८।१।६) इत्यादि श्रुत्यन्तराविरोधश्च ।

अनु०—यदि तत्वमसि वाक्य के अभिधेयार्थ रूप से जीव-शरीरक ब्रह्म और जगत् के कारणभूत ब्रह्म को माना जाय तो तत् एवं त्वम् ये दोनों पद मुख्यावृत्ति सम्पन्न होंगे । दो प्रकारों (विशेषणों) से विशिष्ट एक वस्तु के प्रतिपादन द्वारा सामाना-धिकरण्य के लक्षण की सिद्धि भी हो जायेगी । सभी दोषों से रहित एवं समस्त कल्याण गुणात्मक ब्रह्म का जीवान्तर्या-मित्व रूप एक दूसरा ऐश्वर्य भी प्रतिपादित हो जाता है और इस प्रकरण के उपक्रम की अनुकूलता भी बनी रहेगी यही नहीं एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा की उपपत्ति भी बन जाती है । क्योंकि सूक्ष्म चेतनाचेतन वस्तु शरीरक परब्रह्म का ही शरीर है स्थूल चेतनाचेतन वस्तु रूपी ब्रह्म शरीर भूत जगत् ।

'इस नियामकों के भी परम नियामक (परमेश्वर) को' 'इस परंब्रह्म की अनेक परा शक्तियां सुनी जाती हैं' 'यह परमात्मा सभी पापों से रहित तथा सत्यकाम एवं सत्य संकल्प है' इत्यादि अन्य श्रुतियों से (हमारे सिद्धान्त में कोई) विरोध भी नहीं हैं ।

मू०–तत्त्वमसीत्यत्रोद्देश्योपादेय विभागः कथमिति चेत्,नात्र किञ्चिदुद्दिश्य किमपि विधीयते, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यनेनैव प्राप्तत्वात् । अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् । इदं सर्वमिति सजीवं जगन्निर्दिश्य ऐतदात्म्यमिति तस्यैष आत्मेति तत्र प्रतिपादितम् । तत्र च हेतुरुक्तः- 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा०६।८।४) इति; सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तः'(छा०३।१४।१) इतिवत् । तथा श्रुत्यन्तराणिच ब्रह्मणस्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद् वस्तुनश्चशरीरात्मभावमेव तादात्म्यं वदन्ति । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वात्मा' (आ० ३।११।२१) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृतः (वृ० ४।७।३) 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽ–

न्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं, य आत्मा नमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः'' (वृ० ५।७।२२) '' यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्'- इत्यारभ्य 'यस्य मृत्युः शरीरम् । यं मृत्युर्नवेद । एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्योदेवएको नारायणः' (मु० ३ ख० ७) 'तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनु प्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत् ।' (तै० आ० ६।२) इत्यादीनि । अत्रापि—अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।' ' इति ब्रह्मात्मक जीवानुप्रवेशेनैव सर्वेषांवस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वं च प्रति- पादितम् । ' तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् ' इत्यनेनैकार्थ्याज्जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादे- वेत्यवगम्यते । अतश्चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य वस्तु- जातस्य ब्रह्मतादात्म्यमात्मशरीरभावादेवेत्यवगम्यते । तस्माद् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तच्छरीरत्वेनैव वस्तुत्वात् तस्यप्रतिपादकोऽपि शब्दस्तत् पर्यन्तमेव स्वा- र्थमभिदधाति । अतः सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्त्यवगत तत् तत् पदार्थ विशिष्ट ब्रह्माभिधायित्वं सिद्धमि-

त्यैतदात्म्यमिदं सर्वमिति प्रतिज्ञातार्थस्य तत्त्वमसीति सामानाधिकरण्येन विशेषे उपसंहारः ।

अनु०-यदि अद्वैती विद्वान् यहाँ पर यह पूछें कि तत्त्वमसि वाक्य में उद्देश्य और विधेय का विभाग कैसे होगा? तो इसका उत्तर है कि यहाँ पर कुछ उद्देश्य करके कुछ विधान नही नहीं किया जा रहा है। (यदि यहाँ अद्वैती विद्वान् यह कहे कि प्रमाणान्तर के द्वारा अज्ञात अर्थ का विधान क्यो नही है तो इसका उत्तर है कि केवल प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो के द्वारा ही ज्ञात किसी अर्थ का वाक्य अनुवादक नहीं होते हे अपितु दूसरे वाक्यो द्वारा ज्ञात अर्थ का भी कोई वाक्य अनुवाद करता है। (अतएव) यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है। इस पूर्व वाक्य से ही प्राप्त अर्थ का (तत्त्वमसि वाक्य अनुवाद कर रहा है।) क्योंकि अज्ञात अर्थ को ही जनाकर शास्त्र अज्ञात ज्ञापन रूप प्रयोजन से युक्त माना जाता है।

जीव सहित इस सम्पूर्ण जगत् का निर्देश करके ऐतदात्म्यम्० इत्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत् की आत्मा बतलाया गया है। उसका कारण बतलाया गया है कि हे सोमरस पानार्ह सच्छिष्य उस सारी प्रजा का मूल सत् शब्द वाच्य परंब्रह्म है, वही सारी प्रजा का आयतन और आधार है। इस वाक्य में ब्रह्म का वस्तुत्व उसी तरह से निहित है जिस तरह 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है अतएव उपासक को ब्रह्म की उपासना जगत् की सृष्टि स्थिति एवं लय के कारण

रूप से उपासना करनी चाहिये' इस वाक्य में अन्य श्रुतियाँ भी परमात्मा और उससे भिन्न चेतन तथा अचेतन वस्तुओं के बीच होने वाले तादात्म्य का कारण शरीरात्मभाव सम्बन्ध को बतलाती हैं। तत्तिरीय आरण्यक की श्रुति बतलाती है कि परमात्मा सभी जीवों के भीतर प्रवेश करके उनका नियमन किया करता है अतएव वह सबों की आत्मा है।

(वृ० ५।७।३) श्रुति बतलाती है कि–जो परमात्मा पृथिवी के भीतर रहता हुआ उसकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के भीतर रहता हुआ उसका नियमन करता है वही तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा आत्मा और अमृत है। (वृ० ५।७।२२) श्रुति बतलाती है कि जो परमात्मा आत्मा के भीतर रहते हुए आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, आत्मा जिसे नहीं जानता, आत्मा जिस का शरीर है जो आत्मा के भीतर रहकर उसका नियमन करता है, वही तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है। सुबालोपनिषद् में भी–जो पृथिवी के भीतर सञ्चरण करता हुआ 'यहाँ से लेकर मृत्यु जिसका शरीर है, जिसे मृत्यु नहीं जानती यह सभी भूतों की आत्मा पाप रहित दिव्य देव एक ही नारायण है। आनन्द बली श्रुति भी कहती है कि परमात्मा जगत् की सृष्टि करके उसमें प्रवेश कर गया, उसमें प्रवेश करके जड चेतन रूप हो गया।

इस छान्दोग्योपनिषद् के आत्मविद्या प्रकरण में भी 'अनेन जीवेनात्मना० इत्यादि श्रुति के द्वारा ब्रह्मात्मक जीवानुप्रवेश

के द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् का वस्तुत्व और शब्दवाच्यत्व प्रतिपादित किया गया है। 'जगत् में प्रवेश करके परंब्रह्म चेतनाचेतन हो गया' इस श्रुति के साथ एकार्थता होने के कारण जीव का भी ब्रह्मात्मकत्व ब्रह्मानुप्रवेश के द्वारा ही ज्ञात होता है। अतएव पता चलता है कि चेतनाचेतनात्मक सभी वस्तुओं का ब्रह्म के साथ तादात्म्य शरीरात्म भाव संबन्ध को ही लेकर है। अतएव ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् के लिए वास्तविक है कि वह उसका शरीर है। और उसका प्रतिपादक शब्द भी ब्रह्म पर्यन्त ही अपने अर्थों को बतलाता है। अतएव सभी शब्दों की लौकिक व्युत्पत्ति के द्वारा ज्ञात तत् तत् पदार्थों से विशिष्ट ब्रह्म का ही अभिधान सिद्ध होता है। इस तरह से 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस श्रुति से प्रतिज्ञात अर्थ का तत्त्वमसि इस सामानाधिकरण्य विशेष के द्वारा उपसंहार किया है।

मू०—निर्विशेष वस्त्वैक्यवादिनो भेदाभेदवादिनः केवल भेदवादिनश्च वैयधिकरण्येन सामानाधिकरण्येन च ब्रह्मात्मभावोपदेशाः सर्वे परित्यक्ताः स्युः। एकस्मिन् वस्तुनि कस्य कमुपदिश्यते? तस्यैवेति चेत्, तत् [illegible] न [illegible] किञ्चित्। [illegible] तत्तु न सामानाधिकरण्य [illegible]। सामानाधिकरण्यं तु ब्रह्मणि प्रकारद्वयप्रतिपादनेन विरोध-

दोषावहेत् । भेदाभेदवादे तु ब्रह्मण्येवोपाधि संसर्गात् तत्प्रयुक्ता जीवगता दोषा ब्रह्मण्येव प्रादुष्युरिति निरस्त निखिलदोषकल्याणगुणाकरब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विप्रलम्भाः स्युः । स्वाभाविक भेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणस्स्वत एव जीवभावाभ्युपगमात् गुणवद् दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोष ब्रह्म तादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव । केवल भेदवादिनां चात्यन्तभिन्नयोः केनापि प्रकारेणैक्यासम्भवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशो विरुद्ध एव । केवल भेदवादिनां चात्यन्तभिन्नयोः केनापि प्रकारेणैक्यासम्भवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशा न संभवन्तीति सर्ववेदान्त परित्यागः स्यात् ।

अनु०-चूँकि श्रुतियाँ जगत् एवं ब्रह्म के बीच शरीर शरीरीभाव रूप संबन्ध का प्रतिपादन करती हैं, अतएव निर्विशेष वस्तु की एकता का प्रतिपादन करने वाले (अद्वैत मतावलम्बी) भेदाभेदवादी (भास्कर एवं यादवमतावलम्बी) तथा केवल भेदवादी (वैशेषिक आदि) के वैयधिकरण्य एवं सामानाधिकरण्य के द्वारा सभी ब्रह्मात्मभावोपदेश का परित्याग हो जाता है ।

यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि ब्रह्मात्मभाव के उपदेश का त्याग कैसे संभव है? तो इसका उत्तर है कि अद्वैती

विद्वान् जब एक ही वस्तु को परमार्थ मानकर तद्व्यातिरिक्त को मिथ्या मानते हैं तो) फिर जब एक ही वस्तु है तो उसमें किसकी एकता श्रुतियाँ (सामानाधिकरण्य अथवा वैयधिकरण्य के द्वारा) बतलाती हैं ? यदि कहें कि उस ब्रह्म की ही तो इसका उत्तर है कि उस ब्रह्म की एकता तो 'सत्यंज्ञानम्' आदि वाक्य के ही द्वारा ज्ञात है अतएव उसके तादात्म्योपदेश की कोई आवश्यकता ही नहीं है । यदि कहें कि तादात्म्योपदेश के द्वारा कल्पित भेद का खण्डन किया जाता है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह मैं कह चुका हूँ कि यह कार्य सामानाधिकरण्य वाक्य नहीं कर सकता है । क्यों कि सामानाधिकरण्य वाक्य तो किसी एक ही वस्तु के दो प्रकारों को बतलाता है ।) सामानाधिकरण्य तो ब्रह्म मे दो प्रकारों का प्रतिपादन करने के कारण अभेद का विरोध ही है ।

औपाधिक भेदाभेद वादी भास्करमतावलम्बी के मत में यह दोष है कि उस मत में ब्रह्म में उपाधि का संबन्ध होने के कारण उपाधि के चलते जीवों के सभी दोष ब्रह्म को दूषित कर देंगे । फलतः सभी दोषों से रहित सकलगुणगणाकर ब्रह्म का आत्मभावोपदेश विरोध के ही कारण परित्यक्त हो जायेंगे ।

स्वाभाविक भेदाभेदवादी (यादव प्रकाशाचार्य) के मत में भी ब्रह्म के स्वतः ही जीवभाव स्वीकार करने के कारण जिस तरह ब्रह्म के गुण स्वाभाविक हैं उसी तरह से दोष भी स्वाभाविक होंगे । इस तरह से निर्दोष ब्रह्म के तादात्म्य का

का उपदेश विरुद्ध ही होगा। केवल भेदवादी (वैशेषिक आदि के मत में (जीव और ब्रह्म में विशेषणभाव नहीं स्वीकार किये जाने के कारण) परस्पर में अत्यन्त भिन्न जीव और ब्रह्म में किसी भी प्रकार से एकता नहीं सम्भव होने के कारण ही ब्रह्मात्मभाव का उपदेश सम्भव नहीं है। इस तरह से सम्पूर्ण वेदान्त का परित्याग हो जायेगा।

अपर्यवसानवृत्ति का निरूपण

सू०—निखिलोपनिषत् प्रसिद्धं कृत्स्नस्य ब्रह्मशरीरभावमातिष्ठमानैः कृत्स्नस्य ब्रह्मात्मभावोपदेशाः सर्वे सम्यगुपपादिता भवन्ति। जातिगुणयोरिव द्रव्याणामपि शरीरभावेन विशेषणत्वेन 'गौरश्वो मनुष्यो देवो जातः पुरुषः कर्मभिः' इति सामानाधिकरण्यं लोकवेदयोर्मुख्यमेव दृष्टचरम्। जाति गुणयोरपि द्रव्यप्रकारत्वमेव 'खण्डो गौः' (शुक्लःपटः') इति सामानाधिकरण्य निबन्धनम्। मनुष्यत्वादि विशिष्टपिण्डानामप्यात्मनः प्रकारतयैव पदार्थत्वात्, 'मनुष्यः पुरुषः षण्डो योषिदात्मा जातः' इति सामानाधिकरण्यं सर्वत्रानुगतमिति प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्य निबन्धनम्; न परस्परब्यावृत्ता जात्यादयः। स्वनिष्ठानामेव हि

द्रव्याणां कदाचित् क्वचिद् द्रव्यविशेषणत्वे .... प्रत्ययो दृष्टः, दण्डो कुण्डलीति । न पृथक् प्रतिपत्ति स्थित्यनर्हाणां द्रव्याणाम् । तेषां विशेषणत्वं सामानाधिकरण्यावसेयमेव ।

अनु०—सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का शरीर मानने वाले (विशिष्टाद्वैती विद्वानों द्वारा) दिये गये सम्पूर्ण जगत् के ब्रह्मात्मक रूप से सभी उपदेश अच्छी तरह से प्रतिपादित किये जाते हैं। जिस तरह जाति और गुण द्रव्यों के विशेषण होते हैं उसी तरह से द्रव्य भी आत्मा परमात्मा के शरीररूप से अपृथक्सिद्ध विशेषण होने के कारण—गौ घोड़ा, मनुष्य और देवता, जीव अपने कर्मों के द्वारा हो जाता है।' इत्यादि वाक्यों में लोक एवं वेद की दृष्टि से मुख्य ही सामानाधिकरण्य देखा जाता है। 'खण्ड गौ' 'उजला वस्त्र' इत्यादि वाक्यों में जाति और गुण के भी सामानाधिकरण्य के प्रयोजक द्रव्य की प्रकारता ही है, जातित्व एवं गुणत्व नहीं। 'आत्मा मनुष्य, पुरुष नपुंसक, स्त्री हो गया' इत्यादि वाक्यों मे मनुष्यत्वादि विशिष्ट पिण्डों के भी आत्मा के विशेषण रूप से ही पदार्थ होने के कारण सर्वत्र सामानाधिकरण्य अनुगत है। इस तरह सिद्ध होता है कि विशेषणता ही सामानाधिकरण्य का प्रयोजक है। परस्पर में अनुयायी न होने के कारण जातित्व गुणत्व आदि सामानाधिकरण्य के प्रयोजक नहीं है। 'यहाँ पर यदि कोई यह शंका करे कि प्रकारवाचीपद मत्वर्थीय प्रत्यय

निरपेक्ष होकर विशेष्य पर्यन्त के वाचक होते हैं., यह कथन ठीक नहीं है: क्योंकि 'दण्डी कुण्डली' आदि पदों में दण्ड कुण्डल आदि पद मत्वर्थीय प्रत्यय सापेक्ष ही रहकर विशेष्य पर्यन्त के अभिधायक देखे जाते हैं, तो यह भी शंका ठीक नहीं है। जब कहीं पर तथा कभी स्वनिष्ठ पदार्थ ही विशेषण होते हैं तब ही मत्वर्थीय प्रत्यय की सापेक्षता देखी जाती है, जिन द्रव्यों की अनुभूति विशेष्य से पृथक् हो ही नहीं सकती है, वे तो (अपृथक् सिद्ध) द्रव्य मत्वर्थीय प्रत्यय निरपेक्षही रहकर वस्तु के विशेषण बनते हैं। और उनकी विशेषणता का ज्ञान सामानाधिकरण्य के द्वारा ही होता हैं।

मू०—यदि 'गौरश्वो मनुष्यो देवः पुरुषो योषित् षण्ड आत्मा कर्मभि र्जातः' इत्यत्र 'खण्डो मुण्डो गौः' 'शुक्ल पटः, कृष्ण पटः' इति जाति गुणवदात्म प्रकारत्वं मनुष्यादि शरीराणामिष्यते, तर्हि जाति व्यक्त्योरिव प्रकारप्रकारिणोः शरीरात्मनोरपि नियमेन सह प्रतिपत्तिः स्यात् न चैवं दृश्यते, नहि नियमेन गोत्वादिवदात्माश्रयतयैवात्मना सह मनुष्यादि शरीरं पश्यन्ति, अतो मनुष्य आत्मेति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेव। नैतदेवम्, मनुष्यादि शरीराणामप्यात्मैकाश्रयत्वं तदेक प्रयोजनत्वं तत्प्रकार-

त्वञ्च जात्यादि तुल्यम्, आत्मैकाश्रयत्वमात्मविश्लेषे शरीर विनाशादवगम्यते । आत्मैकप्रयोजनत्वञ्च तत् तत् कर्म फलभोगार्थतयैव सद्भावात्, तत्प्रकारत्व-मपि देवो मनुष्य इत्यात्मविशेषणतयैव प्रतीतेः । एत-देव हि गवादिशब्दानां व्यक्तिपर्यन्तत्वे हेतुः । एतत्स्व-भावविरहादेव दण्डकुण्डलादीनां विशेषणत्वे दण्डी कुण्डलीति मत्वर्थीय प्रत्ययः । देवमनुष्यादिपिण्डाना-मात्मैकाश्रयत्वतदेकप्रयोजनत्वतत्प्रकारत्वस्वभावात् देवो मनुष्यः आत्मेति लोकवेदयोः सामानाधिकरण्येन व्यव-हारः जातिव्यक्त्योर्नियमेन सहप्रतीतिरुभयोश्चाक्षुषत्वात् आत्मनस्त्वचाक्षुषत्वाच्चक्षुषा शरीरग्रहणवेलायामात्मा न गृह्यते । पृथग् ग्रहणयोग्यस्य प्रकारतैकस्वरूपत्वं दुर्घटमिति मा वोचः । जात्यादिवत्तदेकाश्रयत्व-तदेक प्रयोजनत्व- तद्विशेषणत्वैः शरीरस्यापि तत्प्रकारतैक स्वभावत्वावगमाद् । सहोपलम्भनियमस्त्वेक सामग्री-वेद्यत्वनिबन्धन इत्युक्तम् ।

यथा चक्षुषा पृथिव्यादेर्गन्धरसादिसंबन्धित्वं स्वाभाविक-मपि न गृह्यते, एवं चक्षुषा गृह्यमाणं शरीरमात्म

प्रकारतैक स्वभावमपि न तथा गृह्यते, आत्मग्रहणे चक्षुषः सामर्थ्याभावात् । नैतावता शरीरस्य तत्प्रकारत्वस्वभावविरहः , तत्प्रकारतैकस्वभावत्वमेव सामानाधिकरण्यनिबन्धनम् । आत्मप्रकारतया प्रतिपादनसमर्थस्तु शब्दः सहैव प्रकारतया प्रतिपादयति ॥

अनु०-यदि यहाँ पर कोई यह शंका करे कि यदि (आत्मा ही अपने कर्मों के कारण गौ, घोड़ा, मनुष्य , देवता, पुरुष, स्त्री, नपुंसक आदि हो जाता है । यहाँ पर 'खण्ड गौ' मुण्ड गौ,' इस वाक्य में प्रतीयमान गोत्वजाति तथा 'उजला वस्त्र, काला वस्त्र' इस वाक्य में प्रतीयमान उजला काला, गुण के समान ही मनुष्यादि शरीर का भी आत्मप्रकारत्व [विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में] अभिप्रेत है तो फिर जाति और व्यक्ति की जिस तरह नियमतः सहप्रतीति होती है, उसी तरह प्रकार प्रकारीभूत शरीर और आत्मा की भी नियमतः सह प्रतीति होती, किन्तु ऐसी प्रतीति नही होती है । क्योंकि जिस तरह गोत्व आदि आत्मा के आश्रयरूप से ही आत्मा के साथ ही मनुष्यादि शरीर नहीं देखे जाते हैं । अतएव सिद्ध होता है कि 'मनुष्य आत्मा है' इत्यादि वाक्यों में सामानाधिकरण्य लाक्षणिक ही है ।

तो इस प्रकार की शंका उचित नहीं है-क्योंकि-जाति आदि के ही समान मनुष्यादि शरीर भी आत्मा के ही अधीन, आत्मा के ही लिए तथा आत्मा के प्रकार (विशेषण) भूत हैं। मनुष्यादि शरीरों के आत्मैकाश्रयत्व की सिद्धि इसलिए होती है

कि आत्मा से अलग होकर शरीर नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यादि शरीरों की आत्मैकप्रयोजनता की सिद्धि इसलिए होती है कि आत्मा के विभिन्न कर्मों के फलों को भोगने के ही लिए शरीर की सत्ता बनी रहती है। चूँकि देव मनुष्य आदि व्यवहारों में शरीर की आत्मा के विशेषण रूप से ही प्रतीति होती है, अतएव शरीर के आत्मप्रकारत्व की भी सिद्धि होती है। आत्मैकाश्रयत्व, आत्मैकप्रयोजनत्व तथा आत्मैकप्रकारत्व ही गो आदि शब्द के व्यक्ति पर्यन्त वाचक होने के हेतु हैं। इस (आत्मैकाश्रयत्व, आत्मैकप्रयोजनत्व तथा आत्मैकप्रकारत्व रूपी स्वभाव के ही अभाव से दण्ड कुण्डल आदि के विशेषण होने में दण्डी कुण्डली, आदि पदों में मत्वर्थीय प्रत्यय करना पड़ता है। देव, मनुष्य आदि शरीरों के आत्मैकाश्रय; आत्मैक प्रयोजन और आत्मैकप्रकार होने का स्वभाव होने के कारण,'देव, मनुष्य और आत्मा का वेद तथा लोक में सामानाधिकरण्येन व्यवहार होता है। जाति और व्यक्ति की नियमतः साथ साथ प्रतीति इसलिए होती है कि (सास्नादि रूप) जाति और (पिण्ड रूप) व्यक्ति दोनों चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय हैं। आत्मा तो चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है नहीं अतएव जिस समय शरीर का चाक्षुष् प्रत्यक्ष होता है उस समय अचाक्षुष् आत्मा का ग्रहण नहीं होता है।

यदि अद्वैती विद्वान् यहाँ पर कहें कि आत्मा से पृथक् ग्रहण करने के योग्य शरीर को आत्मैक प्रकार कैसे कहा जा सकता है? तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जातित्व आदि

के समान शरीर के भी आत्मैकाश्रय, आत्मैक प्रयोजन तथा आत्मविशेषण होने के कारण शरीर भी आत्मैक प्रकार सिद्ध होता है। अब रही केवल नियमतः सहोपलब्धि की बात, तो सहोपलब्धि तो उन्हीं वस्तुओं की होती है जो एक समग्रीवेद्य हों। जिस तरह चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा पृथिवी आदि के स्वाभाविक धर्म गन्ध रस आदि का ग्रहण नहीं होता है उसी तरह चाक्षुष् शरीर का आत्मैक प्रकारत्व चक्षुरिन्द्रिय से नहीं गृहीत होता है। क्योंकि आत्मा के ग्रहण करने का सामर्थ्य चक्षुरिन्द्रिय में नहीं है। सहोपलब्धि मात्र के अभाव में आत्मा के तत्प्रकारत्व के स्वभाव का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है। आत्मैक प्रकारत्व आदि ही शरीर और आत्मा के सामानाधिकरण्य के कारण हैं। शरीर का आत्मा के प्रकार रूप से समर्थन करने में समर्थ शब्द तो आत्मा के साथ ही शरीर को उसका प्रकार बतलाता है।

मू०—ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीर शब्देन शरीरमात्रं गृह्यते इति नात्मपर्यन्तता शरीरशब्दस्य। मैवम्, आत्मप्रकारभूतस्यैव शरीरस्य पदार्थविवेकप्रदर्शनाय निरूपणात् निष्कर्षकशब्दोऽयं, यथा गोत्वं शुक्लत्व-माकृतिर्गुण इत्यादि शब्दाः। अतः गवादिशब्दवद् देवमनुष्यादिशब्दा आत्मपर्यन्ताः। एवं देवमनुष्यादि पिण्डविशिष्टानां जीवानां परमात्मशरीरतया तत्प्र-कारत्वाज्जीवात्मवाचिनश्शब्दाः परमात्मपर्यन्ताः।

अतः परस्य ब्रह्मणः प्रकारतयैव चिदचिद् वस्तुनः पदार्थत्वमिति तत्सामानाधिकरण्येन प्रयोगः । अय-मर्थो वेदार्थ संग्रहे समर्थितः ।

अनु०—यदि यहाँ पर यह शंका की जाय कि शाब्दिक व्यवहार में भी शरीर शब्द शरीर मात्र को ही बतलाता है, अतएव शरीर वाची शब्द को आत्मा पर्यन्त का अभिधायक मानना ठीक नहीं है। तो ऐसा कहना उचित न होगा। क्योंकि आत्मा के प्रकार भूत ही शरीर का पदार्थ विवेक बतलाने के लिए उसका निरूपण होने से यह शरीर शब्द निष्कर्षक शब्द है। (कहने का आशय यह है कि देव आदि शब्द शरीर और आत्मा का भेद पूर्वक ज्ञान नहीं कराते हैं। क्योंकि देव मानव आदि शब्द आत्मा और शरीर दोनों का समानरूप से अभिधान करते हैं। दोनों का भेद नहीं कर सकने के ही कारण देव मानव आदि शब्दों के साथ शरीर शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे देव शरीर, मानव शरीर आदि। अतएव शरीर शब्द निष्कर्षक शब्द है। अतएव इसका आत्मा और शरीर में भेद प्रदर्शनार्थ ही उपयोग होता है।) जिस तरह कि गोत्व और शुक्लत्व आकृति तथा गुण के वाचक इत्यादि शब्द निष्कर्षक शब्द हैं। अतएव जिस तरह से गो आदि शब्द शरीर के साथ-साथ आत्मा पर्यन्त के वाचक हैं, उसीतरह देव मनुष्य आदि शब्द शरीर के साथ-साथ आत्मा पर्यन्त के वाचक हैं। इसी तरह देव मनुष्य आदि शरीरों से युक्त जीवों

के परमात्मा का शरीर होने के कारण वे परमात्मा के प्रकार हैं, अतएव जीवात्मा के वाचक शब्द परमात्मा पर्यन्त के वाचक होते हैं। फलतः परंब्रह्म के प्रकार होने के ही कारण चेतन एवं अचेतन वस्तु पदार्थ हैं। अतएव 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों मे इनका सामानाधिकरण्येन प्रयोग हुआ है। इस अर्थ का पूर्ण समर्थन वेदार्थ संग्रह नामक ग्रन्थ मे किया गया है।

मतान्तरों में सामानाधिकरण्य की सिद्धि असंभव

मू०—इदमेव शरीरात्मभावलक्षणं तादात्म्यम् 'आत्मेति-तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।" (ब्र० सू० ४।१।३) इति वक्ष्यति, आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्' इति च वाक्यकारः।

अनु०-ब्रह्म सूत्रकार बादरायण भी इस शरीर शरीरीभाव रूप सामानाधिकरण्य का प्रतिपादन 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' इस सूत्र में करेंगे। वाक्यकार भी कहते हैं कि शरीर वाचक शब्दों को भी आत्मा पर्यन्त का वाचक स्वीकार करना चाहिये।

संक्षेपतः सिद्धान्तोपन्यास

मू०—अत्रेदं तत्त्वम्—अचिद् वस्तुनः चिद्वस्तुनः परस्य च ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन चेशितृत्वेन च स्वरूप-विवेकमाहुः काश्चन श्रुतयः 'अस्मान् मायी सृजते

विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' (श्वे० ४।९) 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशतेदेव एकः।' (श्वे० १।१०) अमृताक्षरं हर इति भोक्ता निर्दिश्यते; प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन हरतीति हरः। 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।' (श्वे० ६।९) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' (श्वे० ६।१६) 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्' (तै० ना० ११।३) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' (श्वे०१।९) 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।' (क०५।१३)'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' (श्वे० १।१२)'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्यो अभिचाकशीति' (मु० ३।१।१) पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' (श्वे० १।६) 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। (तै० ६।१०।५) समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया

शोचति मुह्यमानः जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।' (श्वे० ४।७) इत्याद्याः

संगति--अद्वैती विद्वान् यदि यहाँ यह कहें कि आत्माओं में भेद सिद्ध होने पर ही शरीर शरीरीभाव संभव है। किन्तु श्रुतियों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि आत्माओं में भेद ही नही है, क्योंकि काल विशेष में सभी आत्माओं की एकता का प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं। एक ही वस्तु का शरीर शरीरी दोनों होना संभव नहीं है। इसलिए स्वरूप परिणाम पक्ष को ही मानना उचित है। इस शंका का अपनोदन करने के लिए तथा सभी श्रुतियों का मुख्यार्थ बतलाने के लिए तत्र तत्र विप्रकीर्ण प्रोक्त अर्थों को संग्रह पूर्वक निम्न अनुच्छेद से दिखाना प्रारम्भ किया जाता है।

अनुवाद-कहने का तात्पर्य है कि-अचिद्वस्तु (प्रकृति) चिद्वस्तु (जीव) और परंब्रह्म का प्रतिपादन कुछ श्रुतियां क्रमश भोग्य, भोक्ता तथा इन दोनों के नियामक रूप से करती हैं। वे श्रुतियाँ निम्न है-मायी परमात्मा अपने सत्य संकल्प के द्वारा इस विश्व की सृष्टि करता है और उसमें दूसरा जीव) माया से आबद्ध है।' 'माया को प्रकृति जानना चाहिये तथा मायीशब्द वाच्य परम ब्रह्म को जानना चाहिये।' 'क्षरण शीला प्रकृति को अमृत और विकार रहित जीव अपने भोग के लिए ग्रहण करता है, इन दोनों प्रकृति और जीव का नियमन एक ही दिव्यगुण सम्पन्न परंब्रह्म करते हैं।'

इस श्रुति में अमृत अक्षर और हर शब्द से भोक्ता जीव का निर्देश किया गया है। जीव को हर इस लिए कहा गया है कि वह प्रकृतिका हरण अपने भोग के लिए करता है।

'वह परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् का कारण और करणाधिप (जीव) का भी नियामक है। परमात्मा का कोई भी जनक एवं नियामक नहीं है। परमात्मा प्रकृति और जीव का रक्षक तथा सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों का स्वामी है।' 'सम्पूर्ण जगत् के शश्वत कल्याणकारी तथा स्खलन रहित (निश्चित) रक्षक आत्मा तथा नियामक परमात्मा को।" ज्ञ (परमात्मा एवं) अज्ञ (जीव) दोनों क्रमशः नियामक एवं नियाम्य हैं। परमात्मा नित्य जीवों से भी बढ़कर नित्य तथा चेतन जीवों से भी बढ़ कर चेतन है। अकेला ही वह अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है।' भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) एवं इन दोनों के प्रेरक परमात्मा का मनन करके जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है।) 'उन दोनों (जीवात्मा एवं परमात्मा) में से एक (जीव) कर्म के फलों (सुख दुःख) का उपभोग करता है और उससे भिन्न परमात्मा उनका बिना भोग किये ही हृष्ट-पुष्ट एवं प्रसन्न रहता है। आत्मा और परमात्मा का पृथक्-पृथक् मनन करके जीव परमात्मा का प्रीतिभाजन बन जाने के कारण मुक्ति प्राप्त कर लेता है।' 'एक अनादि लोहित (रजोगुण) शुक्ल (सत्त्वगुण) एवं कृष्ण (तमोगुण) से युक्त तथा अपने सदृश अनेक सन्तति को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को दूसरा अनादि जीव आसक्त होकर उसका

है कि सम्पूर्ण जगत् की कारण रूपा जो मेरी महद् ब्रह्म है, अर्थात् जो प्रकृति नामक भूतों की सूक्ष्मावस्थारूप प्रकृति है, उसमें चेतन नामक गर्भ का जो संयोग कराता हूँ उससे अर्थात् मेरे द्वारा किये गये चेतन एवं अचेतन के संयोग के द्वारा देवता से लेकर स्थावर पर्यन्त जडमिश्रित सभी भूतों की उत्पत्ति होती है।

मू०—एवं भोक्तृ भोग्य रूपेणावस्थितयोः सर्वावस्थावस्थि-तयोश्चिदचितोः परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वेन तदपृथक्स्थितिं परमपुरुषस्य चात्मत्वमाहुः काश्चन श्रुतयः। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति" (बृ० ५।७।३) इत्यारभ्य—'यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ५।७।२२) इति। तथा 'यः पृथिवीमन्तरे सञ्चारन् यस्य पृथिवीशरीरम् यं पृथिवी न वेद' (सु० ७) इत्यारभ्य 'योऽक्षरमन्तरे सञ्चारन् यस्याक्षरंशरीरम् यमक्षरं न वेद, यो मृत्युमन्तरे सञ्चारन् यस्यमृत्युः शरीरम् यं मृत्युर्न वेद एष

सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारा-यणः' अत्र मृत्यु शब्देन तमः शब्दवाच्यं सूक्ष्मा-वस्थमचिद् वस्त्वभिधीयते, अस्यामेवोपनिषदि, 'अव्य-क्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते' (सु० २) इति वचनात् । अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति च ॥

अनु०– इस प्रकार से भोक्ता भोग्य रूप से विद्यमान सभी अवस्थाओं में रहने वाले चेतनों एवं अचेतनों के परमपुरुष के शरीर होने से परमात्मा के नियाम्य होने के कारण उनकी अपृथक् स्थिति को तथा परम पुरुष को उनकी आत्मा रूप से कुछ श्रुतियाँ बतलाती हैं–बृहदारण्यकोपनिषद् के पाँचवें अध्याय में भी–जो पृथिवी के भीतर रहता हुआ उसकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के भीतर रहता हुआ उसका नियमन किया करता है।' इस श्रुति से लेकर 'जो आत्मा के भीतर रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है जिसको आत्मा नहीं जानता आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के भीतर रहता हुआ उसका नियमन किया करता है वही परमात्मा तुम्हारी अन्तर्यामी अमृत आत्मा है । और सुबालोपनिषद् के सातवें खण्ड में भी-जो पृथिवी के भीतर सञ्चरण करता है, पृथिवी जिसका शरीर है और जिसे वह नहीं जानती है, इस श्रुति

सेवन करता है और उससे भिन्न परमात्मा उसे भुक्त भोग्या समझकर उसका त्याग कर देता है।' 'एक ही शरीर रूपी वृक्ष में अन्तर्निहित जीव नियाम्या प्रकृति से मोहित होकर शोक का अनुभव करता है और जब वह अपने से उत्तम एवं अपने प्रेमास्पद अन्तर्यामी परमात्मा को तथा उसके ऐश्वर्य को जान लेता है तो फिर वह शोक रहित हो जाता है। (ये सभी श्रुतियाँ भोग्य एवं नियामक रूप से प्रकृति जीव एवं परमात्मा का प्रतिपादन करती हैं।)

मू०—स्मृतावपि—

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।
अपरेऽयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ (गी० ७।४-५)
'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूत ग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ (गी० ९।७-८)
''मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते ॥' (गी० ९।१०)
''प्रकृतिं पुरुषं चाविद्धि अनादी उभावपि ॥ (गी० १३।१९)
''मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ (गी० १४।३)

इति जगद्योनिभूतं महद्ब्रह्म मदीयम्, प्रकृत्य.ख्यं भूत सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु यत् तस्मिंश्चेतनाख्यं गर्भं यत् संदधामि, ततो मत् कृताच्चिदचित्संसर्गाद् देवादि स्थावरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्वभूतानां सम्भवो भवतीत्यर्थः ।

अनु०—(उपर्युक्त अर्थ का ही प्रतिपादन श्रुतियों में भी किया गया है । जैसा कि अपनी दो प्रकृतियों का निर्देश करते हुए भगवान् कहते हैं कि पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश मन बुद्धि) और अहंकार यह मेरी आठ प्रकार की प्रकृति है । यह मेरी अपरा प्रकृति है । इससे भिन्न हे महाबहो अर्जुन तू मेरी जीवरूपी परा प्रकृति को जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है ।" "हे अर्जुन कल्प के अन्त में सभी भूत मेरी प्रकृति को जाते हैं और कल्पके आदि में मैं इनको पुनः उत्पन्न करता हूँ प्रकृति के अधीन विवश इस समस्त भूत समुदाय को मैं अपनी प्रकृति का अवलम्बन करके बार-बार नाना प्रकार से रचता हूँ। हे अर्जुन मुझ अध्यक्ष के द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, इसी लिए यह जगत् चलता रहता है ।' 'प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तुम अनादि जानो ।' 'हे अर्जुन मेरी महद् ब्रह्म (प्रकृति) योनि है, उसमें मैं गर्भ की स्थापना करता हूँ उस संयोग से समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है । इस श्लोक का अर्थ यह

से लेकर जो अक्षर (आत्मा) के अन्दर सञ्चरण करता है, आत्मा जिसका शरीर है और जिसे वह जानती भी नहीं, जो मृत्यु के भीतर संचरण करता है, मृत्यु जिसका शरीर है और जिसे वह नहीं जानती, वही सभी भूतों की अन्तरात्मा पापरहित दिव्य देव एक ही नारायण है'। इस श्रुति में मृत्यु शब्द के द्वारा तमः शब्द वाच्य सूक्ष्मावस्था में विद्यमान जड वस्तु का अभिधान किया गया है। क्यों कि इसी उपनिषद् में अव्यक्त का अक्षर में लय होता है, और अक्षर तमस् में लीन होता है, यह कहा गया है। और यह भी कहा गया है कि परमात्मा सबों के भीतर प्रवेश करके उनका नियामक होने से सबों की आत्मा है।

मू०—एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद् वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव कारणावस्थकार्यावस्थ शब्देनाव-स्थित इतीममर्थं ज्ञापयितुं काश्चनश्रुतयः कार्यावस्थं कारणावस्थं च जगत् स एव इत्याहुः। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।१)'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।६) इति। तथा— 'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा, इदं

सर्वमसृजत' (तै० ३।६।२) इत्यारभ्य 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (तै० ३-६-३) इत्याद्याः । अत्रापि श्रुत्यन्तरसिद्धचिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूपविवेकः स्मारितः—"हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य, सच्च त्यच्चाभवत् विज्ञानञ्चाविज्ञानं च ।' इत्यनेनैवार्था–त्मशरीरभावं निबन्धनमिति विज्ञायते । एवम् भूतमेव नामरूपव्याकरणं 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्यत्राप्युक्तम् । अतः कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूल सूक्ष्मचिदचिद् वस्तु शरीरः परमपुरुष एवेति कारणात् कार्यस्यानन्यत्वेन कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततयैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च समीहितमुपपन्नतरम् । 'अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति 'तिस्रो देवता' इति सर्वमचिद् वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मक जीवानुप्रवेशेन नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः शब्दाः अचिद्विशिष्ट जीवविशिष्ट परमात्मन एव वाचका इति कारणावस्थ

परमात्म वाचिना शब्देन कार्यवाचिनः शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्, अतः स्थूल सूक्ष्माचिद चित्प्रकारकं ब्रह्मैव कार्यं कारणञ्चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद् वस्तु शरीरं ब्रह्मैव कारण मिति ब्रह्मोपादानत्वेऽपि सङ्घातस्योपादानत्वेन चिद-चितोर्ब्रह्मणश्च स्वभाव सङ्करोऽप्युपपन्नतरः। यथा शुक्ल कृष्णरक्ततन्तुसङ्घातोपादानत्वेऽपि चित्र पटस्य-तत्तत् तन्तु प्रदेश एव शौक्ल्यादि संबन्ध इति कार्या-वस्थायामपि न सर्वत्र वर्णसङ्करः, तथा चिदचिदीश्-वर सङ्घातोपादानत्वेऽपि जगतः कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्व भोग्यत्व नियन्तृत्वाद्य सङ्करः। तन्तूनां पृथक् स्थिति योग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित्संहतानां कारकत्वं कार्यत्वञ्च। इह तु चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्द वाच्य इति विशेषः। स्वभावादेस्तदसङ्करश्चा तत्र चात्र चा तुल्यः।
एवञ्चा—सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपा-न्यथाभावाभावाद् निर्विकारत्वमुपपन्नतरम् स्थूलावस्थस्य नामरूप विभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुनः आत्मतया-

वस्थानात् कार्यत्वमप्युपपन्नतरम् । अवस्थान्तरापत्ति-रेव हि कार्यता ।

अनु०—इस तरह सभी अवस्थाओं में रहने वाले—चेतन एवं अचेतनों के शरीर होने के कारण चेतनाचेतन से विशिष्ट परमपुरुष ही कारणावस्थजगतरूप से तथा कार्यावस्थजगतरूप से विद्यमान् है। इसी अर्थ को बतलाने के लिए कुछ श्रुतियाँ बतलाती हैं कि 'कार्यावस्था में विद्यमान् जगत् एवं कार्यावस्था में विद्यमान् जगत् वे ही हैं। छान्दोग्योपनिषद् की आत्मविद्या प्रकरण में आयी हुई एक श्रुति कहती है कि—हे सोमरस पानार्ह सच्छिष्य श्वेतकेतो! सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् एक एवं अद्वितीय सत् स्वरूप ही था, उस सच्छब्दवाच्य परमात्मा ने सत्य संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, इस तरह उसने तेज की सृष्टि की, यहाँ से लेकर हे सोमरस पानार्ह, इनसारी प्रजाओं का मूल, आयतन और प्रतिष्ठा स्थान सत् शब्द वाच्य परमात्माही है। यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मक है, वह सत्य है, वही (परमात्मा आत्मा है। हे श्वेतकेतो! तुम भी परमात्मात्मक ही हो।' इस श्रुति तक। तथा आनन्द बल्ली के 'उस परमात्मा ने सत्यसंकल्प किया, मैं अनेक हो जाऊँ, अतएव उसने सत्य संकल्प रूपी तप की। उसने तपस्या करके इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की' इस श्रुति से आरम्भ करके 'वह सत्य शब्द वाच्य परमात्मा चेतन एवं अचेतन रूप हो गया इत्यादि श्रुतियों द्वारा परमात्मा ही कारणावस्थ एवं कार्या-

वस्थ जगत् रूप से प्रतीत होते हैं।) यहाँ भी दूसरी श्रुतियों से सिद्ध होने वाला चेतन, अचेतन एवं परमपुरुष परमात्मा के स्वरूप का विवेक स्मरण कराया गया है। अरे हम इन तीनों (जल पृथिवी एवं तेज) के भीतर स्वात्मक सजीव प्रवेश कर जायँ और इनके नाम तथा रूप का विभाग करें।' यह श्रुति स्वशरीरात्मक जीवात्मा का जगत् में प्रवेश तथा उसके नाम रूप का परमात्मा द्वारा विभाग बतलाती है। परमात्मा जड चेतनात्मक जगत् की सृष्टि करके उसके भीतर प्रवेश कर गया। उसके भीतर प्रवेश करके वह जड चेतन रूप हो गया। ज्ञानवान एवं ज्ञानशून्य, सत्य तथा अनृत रूप वही परमात्मा हो गया।

यह श्रुति भी सत् शब्द वाच्य) परमात्मा का सम्पूर्ण जगत् रूप में परिणाम बतलाती है। 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' श्रुति जीव को ब्रह्मात्मक सिद्ध करती है। उसकी 'तमनु प्रविश्य ··· ·· विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च।' इस श्रुति से एकार्थता होने के कारण जीव एवं ब्रह्म के बीच शरीरशरीरी भावरूप संबन्ध को बतलाती है। इसी तरह का ही नाम रूप का विभाग निश्चय ही यह सम्पूर्ण जगत उस समय (सृष्टि से पूर्व) नाम रूप विभाग रहित था पुन परमात्मा ने इसके नाम रूप का विभाग किया। इस श्रुति में बतलाया गया है। अतएव कार्यावस्था एवं कारणवस्था में जड चेतन वस्तु शरीरक परमात्मा ही रहता है, इस तरह कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य की अभिन्नता सिद्ध होने से कारण ज्ञान से कार्य का ज्ञान सिद्ध होने के कारण छान्दोग्योपनिषद्

के [illegible] प्रकरणस्थ एक विज्ञान से सर्वविज्ञान रूप समीहित [illegible] की सिद्धि होती है। '[illegible]' इत्यादि श्रुति में [illegible] पद से सम्पूर्ण जड़ वस्तुओं का निर्देश करके [illegible] जीवानुप्रवेश के द्वारा उनके [illegible] के विधान के द्वारा सिद्ध हुआ कि [illegible] शब्द जड़ विशिष्ट जीव, तथा [illegible] से विशिष्ट परमात्मा के ही वाचक है। इस तरह [illegible] रहने वाले परमात्मा के वाचक शब्द के द्वारा कार्य (जगत्) के वाचक शब्द का सामानाधिकरण्य मुख्यावृत्ति से ही सिद्ध होता है। अतएव सूक्ष्म जड़ चेतन विशिष्ट ब्रह्म ही कारण तथा स्थूल जड़ चेतन विशिष्ट ब्रह्म कार्य है, इस तरह जगत का उपादान कारण ब्रह्म ही सिद्ध होता है सूक्ष्म जड़ चेतन वस्तु शरीर वाला ब्रह्म ही कारण है। जगत् का उपादान कारण ब्रह्म के होने पर भी जड चेतन पर ब्रह्म के संघात (समुदाय) के उपादान कारण होने से चेतन, अचेतन एवं ब्रह्म के स्वभाव में अभिश्रण भी सिद्ध हो जाता है।

जिस तरह चित्र (चितकबरे) वस्त्र का उपादान कारण उजले, काले, लाल तन्तुओं के समुदाय के होने पर भी, उस वस्त्र का विभिन्न तन्तु प्रदेश में ही शुक्लिमा आदि का संबन्ध होता है (सर्वत्र नहीं) इसी तरह कार्यावस्था में भी उन तन्तुओं का सर्वत्र वर्ण सङ्कर नहीं है। इस तरह चेतन अचेतन एवं ईश्वर के समुदाय के जगत् का उपादान कारण होने पर भी

कार्यावस्था में उनके भोग्यत्व, भोक्तृत्व एवं नियामकत्व रूप स्वभाव में कोई मिश्रण नहीं है।

अलग रहने में समर्थ तन्तु भी पुरुष की इच्छा से समय विशेष में संहत होकर पट के कारण तथा कार्य भी हो जाते हैं। और यहाँ तो सभी अवस्थाओं में रहने वाले चेतन एवं अचेतन के परम पुरुष का शरीर होने के कारण इनके परमात्मा के प्रकार (विशेषण) होने से ही वे पदार्थ हैं। इन प्रकारों से विशिष्ट परमात्मा ही सर्वदा सभी शब्दों द्वारा कहा जाता है, यह दोनों (दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में अन्तर है। किन्तु जगत् (दार्ष्टान्तिक) और वस्त्र (दृष्टान्त) के संघात रूप उपादानों के स्वभाव के भेद और उनके अमिश्रण में समानता है। इस तरह परब्रह्म का कार्य में प्रवेश होने पर भी स्वरूप में कोई विकार नहीं होने के कारण परमात्मा का विकारराहित्य सर्वथा सिद्ध है।

स्थूलावस्था में रहने वाला नाम रूप रूपी विभागों में विभक्त जड चेतन वस्तुओं की आत्मा रूप में रहने के कारण परमात्मा का जगत् रूप से कार्यत्व भी सिद्ध ही हो जाता है। क्योंकि किसी वस्तु के अवस्थान्तर को प्राप्त कर लेने को ही कार्य कहते हैं।

मू०—निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धादुपपद्यन्ते। 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः' (छा० ८।१।५) इति हेयगुणान्

प्रतिषिध्य 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति कल्याण गुणान् विदधतीयं श्रुति एवान्यत्र सामान्येनावगतं गुणनिषेधं हेयगुणविषयं व्यवस्थापयति ।

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेतिवादश्च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्निखि-लहेयप्रत्यनीक कल्याणगुणाकरस्य ब्रह्मणः स्वरूपं ज्ञानैक निरूपणीयं स्वयंप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं चेत्य-भ्युपगमादुपपन्नतरः । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १ १।९) 'परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।' (श्वे० ६।८) विज्ञातारमरेकेन विजानीयात्' इत्यादिकाः ज्ञातृत्वमावेदयन्ति, 'सत्यं ज्ञानम्' (तै० ३।१।१) इत्यादिकाश्च ज्ञानैक निरूप-णीयतया स्वप्रकाशतया च ज्ञानस्वरूपताम् ।

'सोऽकामयत बहुस्याम' (तै० ३।६।२) 'तदैक्षत बहुस्याम' (छा० ६।२।३) 'तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रि-यते' (बृ० ३।४।७) इति ब्रह्मैव स्वसङ्कल्पाद् विचित्र स्थिरत्रसरूपतया नानाप्रकारमवस्थितमिति तत्प्रत्यनीकाऽब्रह्मात्मकवस्तुनानात्वम् अतत्त्वमिति तत्प्रतिषिध्यते 'मृत्योस्समृत्युमाप्नोति य इहनानेव

पश्यति' (कठ० ४।१०) नेहनानास्ति किञ्चन' (कठ० ४।११) 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् तत् केन कं विजानीयात् ।' (बृ०४।४।१४) इत्यादिना' न पुनः 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति सिद्धं स्वसङ्कल्पकृतं ब्रह्मणो नाना नामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वमपि निषिध्यते । यत्र त्वस्य सर्वमात्मै-वाभूत' इत्यादि निषेधवाक्यशेषे च तत्स्थापितम्—'सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वंवेद' (बृ० ४।४।६) 'तस्य हवा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः' (सुबा० २ ख०) इत्यादिना ।

अनु-परब्रह्म का त्याज्य प्राकृतिक गुणों से संबन्ध न होने के कारण उनके निर्गुणवाद की भी सिद्धि हो जाती है ।(अर्थात् परमात्मा को निर्गुण बतलाने वाली श्रुतियों का तात्पर्य है कि उनमें प्राकृतिक गुणों का संबन्ध नहीं होता है ।) 'परमात्मा पाप, जरा, मृत्यु, शोक, भूख एवं प्यास से रहित है' यह छान्दोग्य श्रुति परमात्मा के त्याज्य गुणों का निषेध करके उसे सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प बतलाकर उनमें कल्याणगुणों का विधान करती हुई यह श्रुति ही दूसरी श्रुतियों द्वारा

सामान्यतः ज्ञान गुणों के निषेधको त्याज्य गुण विषय रूप से व्यवस्था करती है। अर्थात् यह श्रुति बतलाती है कि अन्य श्रुतियों में जो ब्रह्म के गुणों का निषेध किया गया है, उन श्रुतियों का विषय ब्रह्म में हेय गुण का अभाव बतलाना है, कल्याण गुणों का नहीं।) ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, यह बतलाने वाली, श्रुतियों की मुख्यतः सिद्धि इसलिए हो जाती है कि सर्वत्र सर्वशक्ति सम्पन्न सभी त्याज्य गुणों के प्रतिभट तथा सभी कल्याण गुणों के आकर ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण केवल ज्ञान के द्वारा ही किया जा सकता है, किञ्च ब्रह्म इसलिए भी ज्ञान स्वरूप है कि वह स्वयं प्रकाश है। (अर्थात ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप इसलिए कहा जाता है कि सर्वज्ञ होने के कारण उसमें ज्ञानगुण की प्रधानता है; तथा वह स्वयं प्रकाश है। क्योंकि ज्ञाता का निरूपक ज्ञान ही होता है-यह तद्गुण सारत्वात्' सूत्र में बतलाया जायेगा।

निम्न श्रुतियाँ ब्रह्म के ज्ञान गुण का प्रतिपादन करती हैं। वे हैं-(१) जो ब्रह्म सभी वस्तुओं का सामान्यतः एवं विशेषतः ज्ञाता है। (२) इस परंब्रह्म की अनेक परा शक्तियाँ सुनी जाती है। उसके ज्ञान एवं बल की क्रिया स्वाभाविक है। ३) उस सभी वस्तुओं को विशेषरूप से जानने वाले ब्रह्म को किस साधन के द्वारा (अशेषतः) जाना जाय? 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के ज्ञानमात्र निरूपणीय तथा स्वयं प्रकाश होने के कारण उसे ज्ञान स्वरूप बतलाती हैं।

'उस सच्छब्द वाच्य परंब्रह्म ने सत्यसंकल्प रूप कामना की कि मैं अनेक हो जाऊँ।' यह तैत्तिरीय श्रुति, 'उसने इच्छण किया कि मैं अनेक हो जाऊँ' यह छान्दोग्य श्रुति, तथा परंब्रह्म ने ही अपने सत्यसंकल्प द्वारा इस चेतनाचेतनात्मक जगत् के नाम रूप का विभाग किया है' यह बृहदारण्यक श्रुति बतलाती है कि अनेक प्रकारों वाला ब्रह्म ही अपने सत्यसंकल्प के द्वारा (नानाकार) अद्भूत जड जङ्गमरूप से अवस्थित है। इसके विरुद्ध ब्रह्मात्मकत्व रहित वस्तुओं का नानात्व अवास्तविक है, अतएव इसका निम्न श्रुतियाँ निषेध करती हैं। वे हैं-(१) जो जगत् में अब्रह्मात्मक नानात्व का दर्शन करता है वह बार-बार मृत्यु के अवर्त में पड़ता है। (२) जगत् के ब्रह्मात्मक होने से नानात्व सम्पन्न कुछ भी नहीं है। (३) जहाँ पर अब्रह्मात्मक भेद की प्रतीति होती है, वहीं कर्ता भेद देखता है। जब कि सभी जगत् में ब्रह्मात्मकता की प्रतीति हो जाती है तो फिर किस साधन के द्वारा ब्रह्मात्मक व्यतिरिक्त को देखा एवं जाना जा सकता है। इन श्रुतियों में 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध ब्रह्म के अपने सत्यसंकल्प से रचित, नाना नाम रूप भाक् होने के कारण उसके नाना प्रकारत्व का भी निषेध नहीं किया जाता है। क्योंकि ब्रह्म के नाना प्रकारत्व की स्थापना 'यत्रत्वस्य सर्व मात्मैवाभूत' इत्यादि निषेध वाक्य की आदि में भी निम्न श्रुतियां प्रतिपादन करती हैं-(१)जोपरमात्मात्मकत्व से भिन्न सम्पूर्ण वस्तुओं को जानता है, उसे वस्तुएँ पराकृत (पराजित) कर

देती हैं। 'निश्चय ही इस स्वरूपतः एवं गुणतः महत्त्वगुण सम्पन्न परंब्रह्म के जो ऋग्वेद आदि सम्पूर्ण जड जङ्गमात्मक वस्तु हैं वे निश्वास भूत हैं।' (अर्थात् उनको उत्पन्न करने के लिए परमात्मा को कोई आयास नहीं करना पड़ा है।)

मू०— एवं चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदं स्वभावभेदञ्च वदन्तीनां कार्य्यकारण भावं कार्यकारणयोरनन्यत्वञ्च वदन्तीनां सर्वासां श्रुतीनामविरोधः, चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीरभूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां च तदर्हस्थूलदशापत्तिं वदन्तीभिः श्रुतिभिरेव ज्ञायत इति ब्रह्मज्ञानवादस्यौपाधिक ब्रह्मभेदवादस्य [illegible] पन्यायमूलस्य सकलश्रुतिविरुद्धस्य न कञ्चिदप्यवकाशो दृश्यते। चिदचिदीश्वराणां पृथक् स्वभावतया तत् तत् श्रुतिसिद्धानां शरीरात्मभावेन प्रकारप्रकारितया श्रुतिभिरेव प्रतिपन्नानां श्रुत्यन्तरेण कार्यकारणभाव प्रतिपादनं कार्यकारणयोरैक्य प्रतिपादनञ्च ह्यविरुद्धम्।

यथा आग्नेयादीन् षड्यागान् उत्पत्तिवाक्यैः पृथगुत्पन्नान् [illegible]यानुवाक्यादिवाक्यद्वयेन समुदायद्वयत्वमाप—

न्नान् 'दर्श पूर्णमासाभ्याम्' (कात्ययन श्रौत सूत्रम् ४।२।४७) इत्यधिकारवाक्यं कामिनः कर्तव्यतया विदधाति, तथा चिदचिदीश्वरान् विविक्त स्वरूप-स्वभावान् 'क्षरं प्रधानममृताक्षरंहरः क्षरात्मानावी-शते देव एकः' (श्वे० १।१०) पति विश्वस्यात्मेश्-वरम्' (तै० ना० ११।४) 'आत्मा नारायणः परः' (तै० ना० ११।४) इत्यादि वाक्यैः) पृथक् प्रतिपाद्य, 'यस्य पृथिवी शरीरम्' (बृ० ५।७।३) 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृ० ५।८।२२) 'यस्याव्यक्तं शरीरम् यस्याक्षरं शरीरम् । एष सर्वभूतान्तरात्मा-ऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इत्यादिभि-र्वाक्यैः चिदचितोः सर्वावस्थावस्थितयोः परम त्मशरी-रतां परमात्मनस्तदात्मताञ्च प्रतिपाद्य शरीरिभूत परमात्माभिधायिभि, सद्ब्रह्मादिशब्दैः कारणावस्थः कार्यावस्थश्च परमात्मैक एवेति पृथक् प्रतिपन्नं वस्तु-त्रितयं 'सदेव सोम्येदमग्रासीत्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिवाक्यं प्रतिपाद-यति । चिदचिद् वस्तुशरीरिणः परमात्मनः परमात्म

[illegible] हि नास्ति विरोधः; यथा मनुष्यपिण्ड शरीरकस्य आत्मविशेषस्यायमात्मा सुखी इत्यात्मशब्देन अभिधानम् इत्यलमतिविस्तरेण ।

संगति—यदि कोई यह प्रश्न करे कि विशिष्टाद्वैती विद्वान् और व्याख्याता भी अपने अपने ढंग से श्रुतियों का निर्वाह करते ही है, ऐसी स्थिति में विशिष्टाद्वैती विद्वानों की ही बातें क्यो स्वीकार की जायं तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार नीचे के अनुच्छेद में बतलाते हैं कि हम जो निर्वाह करते हैं, वह श्रुत्यनुगुण है। अद्वैती आदि विद्वानों का जो निर्वाह प्रकार हैं वह श्रुति विरुद्ध है, श्रवण प्रतिकूल है तथा तर्काभासों पर आधारित हैं। अतएव विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की बातों को स्वीकार करना चाहिये ।

अनु०—इस तरह से चेतन, अचेतन तथा ईश्वर के परस्पर मे स्वरुप एवं स्वभाव एवं भेद को बतलाने वाली, तथा उनमें परस्पर कार्य कारण रुप संबन्ध तथा कार्य एवं कारण की अभिन्नता का प्रतिपादन करने वाली उपर्युक्त सभी श्रुतियो में कोई विरोध नहीं है। चेतन एवं अचेतन का परमात्मा के साथ सर्वदा शरीरात्मभाव सबन्ध को, शरीरभूत चेतन एवं अचेतनों की कारण अवस्था में नामरूप विभाग के अयोग्य सूक्ष्म दशा की प्राप्ति को, तथा कार्यावस्था मे नाम रूप के विभाग के योग्य स्थूल दशा की प्राप्ति को श्रुतियां ही बतलाती हैं। इस

तरह से (अद्वैत सिद्धान्तानुसारी) ब्रह्माज्ञान वाद, (भास्कर मतानुसारी) औपाधिक ब्रह्म भेद वाद तथा इन दोनों से भिन्न दूपितन्याय मूलक (यादवमतानुसारी स्वाभाविक भेदाभेद वाद) ये सभी मत श्रुति विरुद्ध है, इनके लिए कहीं भी श्रुतियों में अवकाश नहीं है।

चेतन अचेतन तथा ईश्वर का स्वभाव परस्पर में भिन्न होने के कारण, अनेक श्रुतियो द्वारा सिद्ध उनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध होने के कारण प्रकार (विशेषण) प्रकारी (विशेष्य) रूप से उन्हें श्रुतियो द्वारा ही ज्ञात होने से दुसरी श्रुतियों द्वारा कार्यकारण भावरूप संबन्ध का प्रतिपादन और कारण कार्य की एकता प्रतिपादन विरुद्ध नही है।

जिस तरह आग्नेय आदि छह यागों के प्रथम ज्ञान के जनक वाक्यो द्वारा पृथक् प्रतिपादित समुदाय के अनुवादक दो वाक्यों द्वारा दो समुदायत्व को प्राप्त, उन यागों को स्वर्ग प्राप्ति की कामना से दर्श एव पूर्णमास के द्वारा यजन करे, यह अधिकार वाक्य (स्वर्ग की कामना करने वाले के लिए कर्तव्य रूप से विधान करता है, उसी तरह से अलग-अलग स्वरुप एवं स्वभाव वाले, चेतन, अचेतन एवं ईश्वर का निम्न श्रुतियाँ प्रतिपादन करती है-(१) क्षरण शील स्वभाव वाली प्रकृति है, जीव अपने उपभोग के लिए उसका आहरण करता है। जीव एवं प्रकृति दोनों का नियमन एक ही देव नारायण करते हैं। (यह श्रुति प्रकृति को जीव एवं ईश्वर का भोग्य, जीव को प्रकृति

का भोक्ता एवं ईश्वर का नियान्य, तथा ईश्वर को जीव एवं प्रकृति के नियामकरुप से प्रतिपादन करती है।) (२) परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के पति (रक्षक) आत्मा एवं नियामक तथा व्यापक हैं। (३) परंब्रह्म नारायण ही सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है।

पुनः निम्न श्रुतियाँ सभी अवस्थाओं में रहने वाले चेतन एवं अचेतनों के परमात्मशरीरत्व, और परमात्मा का उनकी आत्मा रूप से प्रतिपादन करती हैं-वे श्रुति वाक्य हैं- जिस परंब्रह्म नारायण का शरीर पृथिवी है। 'जिसका आत्मा शरीर है।' जिसका अव्यक्त (प्रकृति) शरीर है। जिसका अक्षर (जीव) शरीर है। ये सभी भूतों की अन्तरात्मा एक ही दिव्य देव नारायण हैं।

उपर्युक्त प्रकार का प्रतिपादन करके श्रुतियाँ आत्माभूत परमात्मा के वाचक, सत्, ब्रह्म आत्मा आदि शब्दों के द्वारा बतलाती हैं कि कारणावस्था में रहने वाले परमात्मा एक ही हैं। जो पृथक्-पृथक् तीन वस्तुओं के रूप में प्रतीत होते हैं। वे वाक्य हैं-हे सोमरस पानार्ह श्वेतकेतो यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि से पूर्व सत् रूप ही था। 'यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मात्मक है। यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मात्मक होने से ब्रह्म स्वरूप है। चेतनाचेतन वस्तुशरीरक परमात्मा का परमात्मा शब्द से अभिधान करने में कोई दोष नही है। जिस तरह से मनुष्य शरीर वाले आत्मा विशेष का यह आत्मा सुखी है, इस तरह मे आत्मा शब्द से अभिधान होता है, उसी तरह चेतनाचेतन शरीर वाले परमात्मा

का परमात्मा शब्द से अभिधान करने में कोई विरोध नहीं है। अब अधिक विस्तार करने से कोई लाभ नहीं है।

टिप्पणी-आग्नेयादीन् इत्यादि वाक्य का आशय है कि दर्श-पूर्णमास में छह याग होते है-आग्नेय, अग्निषोमीय उपांशुयाज, ऐन्द्रं दधियाग, ऐन्द्रंपयोयाग और ऐन्द्राग्नेय। ये याग पौर्णमासी में, अष्टकपाल, एकादशकपाल, अग्निषोमीय तथा उपांशुयाज किये जाते हैं इन सबा के प्रथम प्रतिपति जनक वाक्य अलग-अलग। उन्हीं वाक्यो को उत्पत्ति वाक्य कहा गया है। ऐन्द्रंदधि, एव ऐन्द्रंपय: याग अमावस्या में किये जाते है। इनके भी प्रथम प्रतिपतिजनक वाक्य अलग-अलग है। इस तरह पौर्णमासी एव अमावस्या में किये जाने वाले दोनों वर्गो के यागो की एकता 'दर्शपूर्णमासाम्या यजेत्' इस अधिकरण वाक्य से बतलायी जाती है।

॥ निवृत्त्यनुपपत्ति ॥

मू०-यत्पुनरिदमुक्तम्-ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनैवाविद्यानिवृत्ति-र्युक्तेति तदयुक्तम्-बन्धस्य पारमर्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात्; पुण्यापुण्य रुपकर्मनिमित्तदेवादि शरीर प्रवेश तत्प्रयुक्त सुख दुःखानुभवरूप बन्धस्य मिथ्यात्वं कथमिव शक्यते वक्तुम्? एवं रूपबन्धनिवृत्तिः भक्तिरूपापन्नोपासन प्रीत परम पुरुष प्रसादलभ्येति

पूर्णमेवोक्तम् । भवदभिमतस्यैक्य ज्ञानस्य यथावस्थित वस्तुविपरीतविषयत्व मिथ्यारूपत्वेन बन्धवृद्धिरेव फल भवति-"मिथ्यैतदन्यद द्रव्यं हि, नैति तद्द्रव्यतां यतः ।" (वि० पु० २।१४।२७) इति शास्त्रात् ।" उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (गी० १५।१७) "पृथगात्मानं प्रेरिता-रञ्च मत्वा" (श्वे० १।६) इति जीवात्मविसजातो-यस्य तदन्तर्यामिणो ब्रह्मणो ज्ञानं परमपुरुषार्थ लक्षणमोक्ष साधनमित्युपदेशाच्च ।

अपि च भवदभिमतस्यापि निवर्तकज्ञानमिदं स्वविरोधिसर्वं भेदजातं निवर्त्य क्षणिकत्वात् स्वयमेव नश्यतीति चेत्, न तत् स्वरूपतदुत्पत्तिविनाशानां काल्पनिकत्वेन विनाशतत्कल्पना कल्पकरूपाविद्याया निवर्तकान्तरमन्वेषणीयम् । तद्विनाशी ब्रह्मस्वरूपमे-वेति चेत् तथा सति निवर्तकज्ञानोत्पत्तिरेव स्यात्, तद्विनाशे तिष्ठति तदुत्पत्त्यसम्भवात् ।

अनुवाद-अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि ब्रह्मामै-कत्व विज्ञान के ही द्वारा अविद्या की निवृत्ति होती है, यही मानना युक्तियुक्त है, नो उनका यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि ज्ञान के द्वारा मिथ्या वस्तु की ही निवृत्ति होती है,

और अविद्या बन्धन का तो पारमार्थिक है, अतएव उसकी ज्ञान के द्वारा निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि जो पुण्य एवं पाप रूप अपने किये हुए कर्मों के कारण जीव का देव, मानव आदि शरीरो में प्रवेश होता है; और उसी शरीर के माध्यम से वह सुख दुःख आदि का अनुभव करता है, वही कहलाता है बन्धन, इसको फिर मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? और मैं पहले कह चुका हूँ कि इस प्रकार के बन्धन की निवत्ति तो भक्ति रूपा उपासना से प्रसन्न हुए भगवान् की कृपा से ही हो सकती है। और आप अद्वैती विद्वानों के अभिमत आत्मैकत्व विज्ञान) जिसका विषय, वस्तु याथात्म्य के विपरीत ही है, उसके मिथ्या होने के कारण, उसका तो फल बन्धन की अत्यन्त वद्धि ही हो सकती है, निवृत्ति नहीं। अभेद को अतथ्य बतलाते हुए श्री विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि चूँकि एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता है अतएव जीव और ब्रह्म की एकता का आपादन मिथ्या ही है। (जीव और ब्रह्म के भेद का आपादन करते हुए गीता में भी कहा गया है कि) उत्तम पुरुष (परमात्मा) तो इन क्षर एवं अक्षर जीवों से भिन्न ही है। आत्मा से भिन्न उसके प्रेरक परमात्मा का मनन करके (जीव परमात्मा का प्रेम पात्र बन जाता है)यह श्रुति जीवात्मा से भिन्न उसके अन्तर्यामी परंब्रह्म के ज्ञान का परमपुरुषार्थ रूपी मोक्ष के साधनरूप से उपदेश देती है।

किञ्च अद्वैती विद्वानों को जो निवर्तक ज्ञान अभिमत है, वह भी तो मिथ्या ही है, अतएव उसके लिए किसी दूसरे निवर्तक का उन्हें अन्वेषण करना चाहिये। यदि वे यहाँ पर यह कहें कि जिस तरह वन में लगी हुई दावाग्नि सम्पूर्ण इन्धन को जलाकर अपने निवर्तक की अपेक्षा किये विना स्वयं नष्ट हो जाती है, उसी तरह) यह ज्ञान भी अपने सभी विरोधियों को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है, तो उनका यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त में निवर्तक ज्ञान और उसका विनाश ब्रह्म व्यतिरिक्त है अथवा ब्रह्म स्वरूप ही है। ब्रह्म व्यतिरिक्त यदि मानें तो फिर उसके स्वरूप, उसकी उत्पत्ति तथा उसके विनाश के काल्पनिक होने के कारण कल्प्य विनाश, इस विनाश को अपना विषय बनाने वाली बुद्धि की कल्पना तथा उसके कल्पक (भ्रमाश्रय आदि) रूप अविद्या के निवर्तन करने वाले किसी दूसरे निवर्तक की कल्पना करनी होगी। यदि कहें कि उस निवर्तक ज्ञान का विनाश स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वैसा मानने पर फिर निवर्तक ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। क्योंकि उसके (विनाश के) रहते हुए उसकी उत्पत्ति का होना असंभव है।

॥ निवर्तक ज्ञान का ज्ञाता असंभव ॥

भू०—अपिच चिन्मात्र ब्रह्म व्यतिरिक्त कृत्स्न निषेध विषय ज्ञानस्यकोऽयं ज्ञाता ? अध्यास रूप इतिचेत्, न, तस्य

निषेध्यतया निवर्तकज्ञानकर्मत्वात् तत् कर्मत्वानुपपत्तेः। ब्रह्मस्वरूपमिति चेत्, ब्रह्मणो निवर्तकज्ञानं प्रति ज्ञातृत्वम् किं स्वरूपम्? उताध्यस्तम्? अध्यस्तं चेत्, अयमध्यासः तन्मूलाविद्यान्तरं च निवर्तकज्ञानाविध्वस्तया तिष्ठत्येव। निवर्तकज्ञानान्तरानुगमने तस्यापि त्रिरूपत्वात् ज्ञात्रपेक्षयानवस्था स्यात्। ब्रह्मस्वरूप-स्यैव ज्ञातृत्वे अस्मदीय एव पक्षः परिगृहीतः स्यात्। निवर्तकज्ञान स्वरुपं स्वस्यज्ञाता च ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन स्वनिवर्त्यान्तरगतमिति वचनं 'भूतल व्यतिरिक्तं कृत्स्नं देवदत्तेन छिन्नम्' इत्यस्यामेव छेदन क्रियाया-मस्य छेत्तुरस्याश्छेदनक्रियायाश्च छेद्यानुप्रवेशवद्धनवदुप-हास्यम्। अध्यस्तो ज्ञाता स्वनाशहेतुभूतनिवर्तकज्ञाने स्वयं कर्ता च न भवति स्वनाशस्या पुरुषार्थत्वात्। तन्नाशस्य ब्रह्म स्वरूपत्वाभ्युपगमे भेददर्शन तन्मूलाविद्या दीनां कल्पनमेव न स्यादित्यलमनेन दिष्टहतमुद्गरा-भिघातेन।

तस्मादनादि कर्मप्रवाहरुपाज्ञानमूलत्वाद् बन्धस्य तन्नि-वर्हणमुक्तलक्षणज्ञानादेव। तदुत्पत्तिश्चाहरहानुष्ठी-

यस्मात् [illegible] बुद्धि विशेष संस्कृत वर्णाश्रमोचित कर्मलभ्या । तत्र केवल [illegible] फलत्वम् अनभिसंहित फल परम पुरुषा[illegible] कर्मणाम् उपासनात्मक ज्ञानोत्प- [illegible] स्थिर फलत्वं च [illegible] न [illegible]यते । [illegible] [illegible] न सम्भवतीति कर्मविचारानन्तरं तत एव हेतो ब्रह्म विचारः कर्त्तव्य इत्यथात इत्युक्तम् ।

अनुवाद-किञ्च ज्ञान मात्र ब्रह्म को छोड़कर सभी वस्तुओं का निषेध करने वाले ज्ञान का ज्ञाता कौन है? । ब्रह्म ही है अथवा ब्रह्म व्यतिरिक्त कोई ?) यदि ब्रह्म व्यतिरिक्त अध्यास रूप किसी को मानें तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह निवर्तक ज्ञान का कर्ता कैसे होगा? क्योंकि किसी वस्तु का समकाल में ही कर्मत्व एवं कर्तृत्व नहीं देखा गया है । यदि ब्रह्म को ही उसका ज्ञाता मानें तो मैं यह पूछता हूँ कि ब्रह्म का यह ज्ञातृत्व इसका स्वरूप है, अथवा उसमें ज्ञातृत्व अध्यस्त है? यदि अध्य- स्त कहें तो फिर यह अध्यास और उस अध्यास का कारण भूत कोई दूसरा अज्ञान बना ही रहेगा जो निवर्तक ज्ञान का विषय नहीं होता । यदि उसका भी कोई निवर्तक ज्ञान स्वीकार करें

तो फिर उस की ज्ञातृज्ञेय सापेक्ष होने के कारण उसके भी ज्ञाता की अपेक्षा होगी और फिर उस अज्ञान के कारण ज्ञानान्तर को स्वीकार करने के कारण अनवस्था रूप अनवस्था दोष होगा।

यदि ज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म को स्वरूपतः ज्ञाता माने तो फिर आप हमारे ही पक्ष को स्वीकार कर लिए, क्योंकि हम भी ब्रह्म को स्वरुपतः ज्ञाता मानते है।

निवर्तक ज्ञान ब्रह्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुओं का निवर्तन करता है, अद्वैती विद्वानों के इस कथन में ब्रह्म व्यतिरिक्त स्वयं होने के कारण वह स्वयं तथा उसके ज्ञाता, तथा निवर्तन क्रिया आदि निवर्त्य के अन्तर्गत आ जाते है, अतएव यह वाक्य विरुद्धार्थक है। अतएव उपहासास्पद है। जिस तरह कोई यह कहे कि 'देवदत्त ने पृथिवी को छोड़कर सब कुछ काट डाला।' तो इस छेदन क्रिया के विषय में स्वयं इस छेदन क्रिया के कर्ता देवदत्त, तथा उसकी छेदन क्रिया भी आती है। अतएव इस वाक्य का अर्थ हुआ कि देवदत्त ने अपने को तथा छेदन क्रिया को भी काट डाला। यदि छेदन क्रिया ही नहीं रही तो कुछ भी नहीं काटा गया और यदि देवदत्त ही काटा गया तो फिर काटेगा कौन? इसी तरह यदि निवर्तक ज्ञानने अपने ज्ञाता और स्वयं को ही निवर्तित कर दिया तो फिर निवर्तन करेगा कौन? तथा जब निवर्तन की क्रिया ही निवर्तित हो गयी तो फिर कुछ भी निवर्तित नहीं हुआ। किञ्च अध्यस्त ज्ञाता अपने नाश के कारण

भूत निर्वतक ज्ञान में स्वयं कर्त्ता ही नहीं हो सकना है। स्वयं ही अपना नाश पुरुषार्थ नही हो सकता है। यदि उसके नाश का ब्रह्मरूप ही मानलिया जाय तो फिर भेद का दर्शन तथा उसके मूलभूत अविद्या की कल्पना ही नही हो सकती है। इस तरह भाग्य से मारे गये इस सिद्धान्त पर मुद्गरा भिघात करना व्यर्थ ही है।

इसलिए यही मानना उचित है कि संसार बन्ध का कारण अनादि काल से प्रवृत्त कर्मों का प्रवाह ही और उसकी निवृत्ति उपासनात्मक ज्ञान के ही द्वारा होती है। उस उपासनात्मक ज्ञान की उत्पत्ति भी, प्रतिदिन अनुष्ठीयमान परम पुरुष परमात्मा की आराधनारूप आत्मा के यथार्थ ज्ञान विशेष के द्वारा संस्कृत अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुकूल किये जाने वाले कर्म से होती है। उसमे भी केवल कर्मों का फल अल्प और अस्थिर होता है, फलानुसधान रहित केवल परम पुरुष की अराधनास्वरूप कर्म उपासनात्मक ज्ञान को उत्पन्नकरके ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के अनुभव रूप अनन्त और अस्थित फल को प्रदान करते हैं। यह ज्ञान कर्मों के स्वरूपज्ञान हुए विना नहीं होता। चूँकि आत्म याथात्म्यबुद्धि सस्कार रहित आकार के परित्यागपूर्वक उपर्युक्त स्वरूप कर्मों का उपादान कर्म विचार के विना सम्भव नही है अतएव कर्म विचार के पश्चात् कर्म विचार करलेने के ही कारण ब्रह्म विचार करना चाहिये यह अथातो ब्रह्म जिज्ञासा सूत्र से कहा गया है।

॥ अधिकरण पूर्वपक्ष ॥

मू० तत्र पुर्वपक्ष वादी मन्यते—वृद्ध व्यवहाराद्न्यत्र [illegible]

बोधकत्व शक्त्यवधारणा सम्भवात्, व्यवहारस्य च कार्यबुद्धिपूर्वकत्वेन कार्यार्थं एव शब्दस्य प्रामाण्यम् इति कार्यरूप एव वेदार्थ, अतोन वेदान्ताः परिनिष्पन्ने परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवितुमर्हन्ति।

संगति–अक्षर योजना में अद्वैति विद्वानों के अक्षरार्थ का खण्डन किया गया। अद्वैति सम्मत अक्षरार्थ का खण्डन करते हुए, अद्वैतिप्रोक्त तात्पर्यार्थ का भी खण्डन किया गया। अद्वैती विद्वानों ने इस सूत्र का अर्थ करते हुए पूर्वपक्ष में कहा है कि ब्रह्म विचार नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रपञ्चसत्य है,
अतएव इसकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा नहीं हो सकती है और अन्त में उन्होंने सिद्धान्तित किया है कि चूंकि प्रपञ्च मिथ्या है, अतएव उनकी ज्ञानके द्वारा निवृत्ति होती है, तदर्थ आत्मैकत्व विज्ञान की प्राप्ति हेतु ब्रह्मविचार किया जाना चाहिये इसका भी पहले खण्डन किया जा चुका है। नीचेके अनुच्छेद में मीमांसकों की शंका का खण्डन किया जा रहा है।

अनु०–पूर्वपक्ष वादी (मीमांसक) विद्वान् मानते है कि वृद्ध व्यवहार से भिन्न शब्दकी बोधकत्व शक्ति असंभव है। और व्यवहार कार्य बुद्धि-पूर्वक होता है अतएव कार्य रूपी ही अर्थ में शब्द प्रमाण होसकता है। इस तरह शब्द का अर्थ कार्य रूप ही होता है। अतएव वेदान्त सिद्ध वस्तु परं ब्रह्म में प्रमाण नहीं बन सकते हैं।

टिप्पणी—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत' इस वाक्य के अनुसार यज्ञोपवीत के पश्चात् वेदों का साङ्गाध्ययन किया जाता है। अध्ययन काल में कर्मों की आपात प्रतीति होती है। आपात प्रतीति उस ज्ञान को कहते हैं। जिसमें संशय और विपर्यय बने रहते हैं। उस संशय और विपर्यय को दूर करने के लिए आचार्य के पास युक्ति युक्त जो अर्थ श्रवण किया जाता है उसे मीमांसा कहते है। कर्म भाग के संशय और विपर्यय का अपनोदन पूर्व मीमांसा के द्वारा और ब्रह्म भाग के संशय और विपर्यय का अपनोदन उत्तर मीमांसा के द्वारा होता है। पूर्वपक्षी का आशय है कि शब्दों की अर्थबोधकता रूप व्युत्पत्ति व्यवहार से ही उत्पन्न होती है। व्यवहार दो प्रकार के होते हैं वाचिक एवं कायिक कोई वृद्ध पुरुष नौकर को आदेश देता है—गाय लाओ। यह सुनकर नौकर गाय लाता है। इस वाक्य को वहीं बैठा हुआ बालक सुनता है, और उसे इस वाक्य का अर्थ ज्ञान जो आनयन रूप कार्यार्थ है, होता है। यह तो लौकिक शब्दों की व्युत्पत्ति हुई वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति विधि प्रत्ययरूप लिङ् से होती है। जिस प्रकार लौकिक व्युत्पत्ति विधि प्रत्यय से युक्त लिङन्त शब्द की अपेक्षा करती है जैसे गाय लाओ आदि में, उसीतरह वैदिक शब्द भी अपनी व्युत्पत्ति के लिए विधि प्रत्यय युक्त लिङन्त पद की अपेक्षा करते हैं। लिङन्त धातु से याग का विधान किया जाता है। कर्म स्वरूप याग का विधान ईश्वराराधनात्मक उस क्रिया से कर्तव्यत्व को समझाना है। यागादि क्रिया के

कर्तव्यत्व को वेद के ही द्वारा समझा जा सकता है। अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं। अतएव लौकिक एवं वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति क्रिया रूप अर्थ बोधन द्वारा ही होती है, सिद्ध वस्तु बोधनद्वारा नहीं। कर्म भाग में आये हुए सिद्ध वस्तु का ज्ञान भी प्रधान क्रिया से अन्वित स्वार्थ स्वरूप में सिद्ध वस्तु परकशब्द से किया जाता है। सिद्ध वस्तु का बोध मुख्य विशेष्यस्वरूप में नहीं उत्पन्न किया जाता है। अतएव लौकिक एवं वैदिक शब्दों की अर्थ बोधकता रूप व्युत्पत्ति कार्यार्थ बोधकत्व द्वारा होती है। सिद्धवस्तु बोधकत्व द्वारा नहीं।

वेदान्त भाग तो सिद्ध ब्रह्म का ही बोध कराता है, अतएव सिद्ध ब्रह्म के वाचक शब्दों की अर्थ बोधकत्वरूप व्युत्पत्ति नहीं हो सकती है। वेदान्त भाग में आये हुए सत् आत्मा, ब्रह्म, नारायण आदि शब्द चूँकि क्रिया के बोधक नहीं हैं अतएव वे ब्रह्म के बोधक नहीं हो सकते हैं। फलतः ब्रह्म विचार का विधानउचित नहीं है। पूर्व मीमांसक जडकर्म तज्जन्यजड अपूर्व की प्रधानता देते हैं, अतः अप्रधान इन्द्रादि चेतन फल प्रदाता नहीं। यह उनका सिद्धान्त है। किन्तु चेतन के संकल्प के बिना जड़ यागादिरूप कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतएव वेदान्त में चेतनों की प्रधानता हो गयी है। चेतनों में प्रधान परमात्मा ही है। उस परमात्मा के ही संकल्पके अनुसार जगत् की सृष्टि स्थिति और लयरूप सारे कार्य चल रहे हैं। इस अर्थ को जन्माद्यधिकरण में बतालाया गया है। उसके भी विषय में चार विप्रतिपत्तियाँ बतलायी जाती है -१-जगत् कारणत्व ब्रह्म का न तो विशेषण हो सकता है

और न तो उपलक्षण, अतएव लक्षण लक्ष्यभाव न होने से ब्रह्म विचारार्ह नहीं है। २-सिद्धवस्तुरूप ब्रह्म का ज्ञान अनुमान प्रमाण से ही हो सकता है, अतएव वेदान्तभाग के विचार की कोई आवश्यकता नहीं है। ३-यदि उपनिषद् भाग से ब्रह्म का विचार किया भीजाय तो भी उसका स्वरूप क्रिया जन्य नही हो सकता है, अतएव वह उस विचार का फल नही हो सकता है, क्यकि क्रिया जन्य वस्तु ही फल कहलाती है। जैसे माली की क्रियासे जन्य आम का फल। स्वर्ग सुख भी याग का फल है क्योंकि वह याग की क्रिया से उत्पन्न होता है। ४-वेदान्तवेद्य ब्रह्म सिद्ध वस्तु है, वह क्रियाजन्य नही हो सकता है, अतएव वह वेदान्त विचार का फल नहीं हो सकता है। इन चार हेतुओ के कारण वेदान्त विचार अयावश्यक है।

जिज्ञासाधिकरण से लेकर समन्वयाधिकरण पर्यन्त शास्त्रारम्भ योग्यत्वरूपी अर्थ का समर्थन कियेजाने के कारण इन चारो अधिकरणो की संगतिरूपी एक पेटिका मानी जाती है। पूर्वमीमांसकों का यह कथन मन्त्र स्वबोध्य याग के द्वारा अपूर्वरूपी फल को प्रदान करता है ठीक नही है। क्योंकि मन्त्र जड़ है। यागजन्य अपूर्व भी जड़ ही है। स्वर्गरूप फल अनुकूल ज्ञानात्मक सुख है। यह स्वर्ग ज्ञानस्वरूप होने के कारण जड़ मन्त्र अथवा जड़ अपूर्व जन्य नही हो सकता है। यदि जड़ अपूर्व सुखरूप ज्ञान का जनक होगा तो जड़ शरीर को ही ज्ञान का जनक क्यो नही मानलिया जाता है। आप यहाँ इष्टापति नही कर सकते

हैं, क्योंकि ऐसा कहना ही चार्वाकमत को स्वीकार करना होगा अतएव जड़ क्रिया को प्रधान नहीं माना जा सकता है। प्रधान चेतन ही है। चूँकि चेतन के संकल्प के विना क्रिया का होना असंभव है। अतएव जड़ का कारणत्व अन्यथा सिद्ध और चेतन का कारणत्व अनन्यथा सिद्ध है। फलतः कर्मफल प्रदाता परमात्मा का विचार करना आवश्यक है।

उपर्युक्त मूल की पंक्तियों में यह बतलाया गया है कि पूर्वमीमांसक यह कहते हैं कि वृद्ध व्यवहार के द्वारा ही व्युत्पत्ति होती है। वृद्ध व्यवहार क्या है तो इसको बतलाते हुए मीमासकों ने कहा कि कोई व्यक्ति किसी नौकर को आदेश देता है, गाय लाओ। नौकर गाय लाया वहीं पर बैठा हुआ अर्थानभिज्ञ बालक व्यक्तियों के वाचिक और कायिक व्यवहारों को देखता है। और समझता है कि गाय लाओ इस वाक्य का अर्थ त्रिकोण सास्नादिमत् पदार्थ का लाना है। इसतरह सिद्ध होता है कि कार्यों के ही बोधक शब्द अर्थों के बोधक होते हैं। वेदान्त वाक्य तो सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादक हैं अतएव वे अर्थ बोधक नहीं है। अर्थानवबोधक होने के कारण वेदान्त के द्वारा ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव ब्रह्मविचार करना उचित नहीं है।

मू०— न च पुत्र जन्मादि सिद्धवस्तुविषयवाक्येषु हर्षहेतून कालत्रयवर्तिनामर्थानामानन्त्यात्; सुलग्न सुख प्रसवादिहर्ष हेत्वर्थान्तरोपनिपातसम्भावनया च प्रियार्थप्रतिपत्ति

निमित्त मुखविकासादिलिङ्गेनार्थ विशेषबुद्धिहेतुत्व निश्चयः, व्युत्पन्नेनर पदविभक्त्यर्थस्य पदान्तरार्थनिश्चयेन प्रकृत्यर्थ निश्चयेन वा शब्दस्य सिद्धवस्तुन्यभिधाने शक्तिनिश्चयः, ज्ञातकार्याभिधायिपदसमुदायस्य तदंश विशेषनिश्चयरूपत्वात् तस्य। न च सर्पाद् भीतस्य नायंसर्पो रज्जुरेषेति शब्दश्रवण समनन्तरं भयनिवृत्ति दर्शनेन सर्पाभाव बुद्धिहेतुत्वनिश्चयः, अत्रापि निश्चेष्टं निर्विषम चेतनमिदं वस्त्वित्याद्यर्थबोधेषु बहुषु भयनिवृत्तिहेतुषु सत्सु विशेष निश्चयायोगात्। कार्यबुद्धि प्रवृत्ति व्याप्तिबलेन शब्दस्य प्रवर्तकार्थविबोधित्वमवगतमिति सर्वपदानां कार्यपरत्वेन सर्वैः पदैः कार्यस्यैव विशिष्टस्य प्रतिपादनान्नान्यान्वितस्वार्थमात्रे पदशक्तिनिश्चयः। इष्टसाधनताबुद्धिस्तु कार्यबुद्धिद्वारेण प्रवृत्ति हेतुः, न स्वरूपेण अतीतानागतवर्तमानेष्टोपाय बुद्धिषु प्रवृत्त्यनुपलब्धेः। इष्टोपायो हि मत्प्रयत्नादृते न सिद्ध्यति, अतो मत्कृतिसाध्य इति बुद्धिर्यावन्न जायते तावन्न प्रवर्तते, अतः कार्यबुद्धिरेव प्रवृत्ति हेतुरिति प्रवर्तकस्यैव शब्दवाच्यतया कार्यस्यैव वेदवेद्य-

त्वात् परिनिष्पन्नरूप ब्रह्मप्राप्तिलक्षणानन्तस्थिरफला प्रतिपत्तेः "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्यादिभिः कर्मणामेव स्थिरफलत्वप्रतिपादनाच्च कर्मफलाल्पास्थिरत्व ब्रह्मज्ञान फलानन्तस्थिरत्व ज्ञानहेतुको ब्रह्मविचारारम्भो न युक्तः।

अनुवाद–यहाँ पर यदि कोई यह शंका करे कि "चैत्र तुम को पुत्र उत्पन्न हुआ" इस वाक्य को सुनकर चैत्र के मुख विकास इत्यादि होता है। चैत्र के मुख विकास आदि को देखकर यह पता चलता है कि चैत्र को उपर्युक्त वाक्य को सुनकर पुत्रोत्पत्तिरूप अर्थका ज्ञान हुआ जिसके कारण यह प्रसन्न है। अब यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि पुत्र की उत्पत्ति तो पहले ही हो जाने से वह सिद्ध वस्तु है, किन्तु उसका ज्ञान उपर्युक्त शब्द को सुनकर होता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी शब्द कार्यार्थ के ही बोधक होते हैं। सिद्धार्थ के बोधक नहीं। तो इसका खण्डन करते हुए प्राभाकार मीमांसक कहते हैं कि चैत्र के हर्ष के ज्ञापक मुखविकास आदि का कारण पुत्रोत्पत्ति के बोधक वाक्य से उत्पन्न पुत्रोत्पत्ति का बोध नहीं हो सकता है। मुख विकास का कारण पुत्रोत्पत्ति काल का सुलग्न और सुख प्रसवादिरूप त्रिकाल में रहने वाले अनन्त अर्थों का बोध होता है। उन अर्थो का बोध पुत्रोत्पत्ति बोधक वाक्य जन्य पुत्रोत्पत्ति का ज्ञान नहीं है अतएव ज्ञात होता है कि सिद्धा।

परक वाक्य अर्थावबोधक नहीं होते है। सिद्धार्थ बोधक वाक्यों में अर्थ विशेष बुद्धि के कारणत्व का अनुमान किया जाता है। अतः यह सिद्धपरकवाक्य प्रियार्थबोधक ही है, अन्यार्थ बोधक नहीं।

(नापिव्युत्पन्नेत्तार०) जिस तरह शब्दों की व्युत्पत्ति व्यवहार से होती है, उसीतरह वाक्य शेष से भी होती है। जैसे 'पिकः कूजति ' यह एक वाक्य है। मानलीजिये इस वाक्य के शेष कूजति पद का अर्थ ज्ञात है कि कूजन कोयल की वोली को कहते हैं तो उसके साथ पढ़े गये पिक शब्द का भी अर्थज्ञात होजाता है कि पिक का अर्थ कोयल है। व्युत्पन्नेतर पद मीमांसकों के मत में शब्दों का अर्थ के साथ होने वाले संबन्ध ग्रहण को व्युत्पत्ति कहते है अर्थ मात्र को ही नहीं। "शब्दस्यार्थ विशेषैः सह संबन्ध ग्रहणम् व्युत्पत्तिः" (श्रुत प्रकाशिका) इसी तरह पद की विभक्ति द्वारा भी प्रकृति का अर्थ ज्ञान होता है—जैसे 'पयसा वृक्षान् सिंचति' यह एक वाक्य है इस के पयसा पद में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र के द्वारा करणत्व के अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है। चूकि पयस् शब्द सेचन क्रिया के साधकतम (करण) रूप तृतीया से युक्त है अतएव ज्ञात होता है कि यह पयस् शब्द दुग्ध का वाचक न होकर जल का ही वाचक है क्योंकि वृक्षों को सिंचन का साधकतम जल ही है। अतः विभक्ति के द्वारा प्रकृति का अर्थ ज्ञान होता है। (नापि व्युत्पन्नेतर पद इत्यादि वाक्य का अनुवाद

है कि) व्युत्पन्नेतर पद के पदांतरार्थ के निश्चय के द्वारा अथवा व्युत्पन्नेतर पद निमक्त्यर्थों के प्रकृत्यर्थों का निश्चायक होने पर भी शब्द की सिद्ध वस्तु के अभिधान की शक्ति नहीं है, क्योंकि ज्ञाता कार्य के वाचक पद समुदाय के पदान्तरार्थ निश्चय तथा प्रकृत्यर्थो निश्चय अनेक कारक विशिष्ट इस कार्य के विशेषणांश मात्र के निश्चय रूप है सिद्ध वस्तु के बोधक नहीं। यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि रस्सी को सर्प समझकर डरे हुए मानुष्य का भय-' यह रस्सी है, सर्प नहीं, इस प्रकार का शब्द सुनते ही-समाप्त हो जाता है, अतएव सर्प के अभाव का ज्ञान का करण होने से सिद्धार्थ का बोधक वाक्यों को माना जा सकता है, तो यह नही कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ भी भय की निवृत्ति के कारण अनेक है-जब वह डरा हुआ मनुष्य देखता है कि यह अचेतन, एवं चेष्टा रहित है अतएव अचेतन एवं विष रहित वस्तु है, इस प्रकार के अनेक ज्ञान ही भय निवृत्ति के कारण है, अतएव यह नही कहा जा सकता है कि पदजन्य सिद्ध वस्तु के बोध से सर्प के भय की निवृत्ति होती है।

वाचस्पति मिश्र ने जो सिद्ध वस्तु में शब्द का प्रामाण्य सिद्ध करते हुए कहा कि मीमांसकों के 'सभी शब्द अर्थानुयायी होते हैं-इस कथन का क्या अभिप्राय है ? क्या वे अर्थानुयायित्व का अर्थ कार्य रूप अर्थ के अभिधायकत्व को मानते हैं ? अथवा कार्यान्वित स्वार्थाभिधायकत्व को ? या कारकान्वित स्वार्थाभिधायकत्व को ? प्रथमपक्ष इस लिए नही माना जा

सकता है कि ऐसा मानने पर कारक वाचक पदों में व्यभिचार होगा। क्योंकि कार्याभिधायक नही होते है। द्वितीय पक्ष इस लिए नहीं माना जा सकता है कि लिङ् आदि में व्यभिचार होगा क्योंकि लिङ् आदि कार्यान्वित स्वार्थ के अभिधायक नहीं होते है। यदि शब्दों को कारकान्वित स्वार्थ का वाचक माना जाय तो फिर कारक पदों में व्यभिचार होगा क्योंकि वे कारकान्वित स्वार्थ के वाचक नहीं होते हैं। अतएव यही मानना चाहिये कि पदों का अनुयायित्व अन्यान्वित स्वार्थाभिधायित्व रूप ही है। और अन्यान्वितत्व तो सिद्ध वस्तुओं का भी होता है, अतएव यह कहना अनुचित है कि सभी शब्द कार्य रूप अर्थ के ही वाचक हैं। इसका खण्डन मीमांसक विद्वान् इस प्रकार से करते है। शब्द अन्यान्वित स्वार्थाभिधायक न होकर कार्यान्वित स्वार्थाभिधायक ही होते हैं। क्योंकि देखा जाता है कि कार्यत्व बुद्धि होने पर ही प्रवृति होती है, अतः ज्ञात होता है कि स्वभाव प्रवर्तकार्थ बोधकत्व है। सभी पदों के कार्यपरक ही होने के कारण सभी पदों के द्वारा विशिष्ट कार्य का ही प्रतिपादन किया जाता है, अतएव यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि पद जो हैं वे अन्यान्वित स्वार्थाभिधायक ही है। अतएव अर्थ बोधकता के अभाव के कारण ब्रह्म के बोधक उपनिषद् भागों का विचार व्यर्थ है। यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि चूँकि प्रवर्तक ही शब्दार्थ होता है अतएव यदि कार्य ही प्रवर्तक होता तो सभी शब्दों को

कार्याभिधायी माना जाता है, किन्तु देखा जाता है कि इष्ट साधनता बुद्धि ही प्रवृत्ति का कारण होती है, अतएव कार्यपरक सभी शब्दों को नहीं माना जा सकता है। तो इस प्रकार के भाट्मीमांसकों की शंका का समाधान करते हुए प्राभाकर मीमांसकों का कहना है कि इष्टसाधनता बुद्धि तो स्वरूपतः प्रवृत्ति का कारण न होकर कार्य बुद्धि के द्वारा प्रवृत्ति का कारण बनती है। क्योंकि यदि इष्टसाधनता बुद्धि ही प्रवृत्ति का कारण होती तो अतीत, अनागत, वर्तमान सभी इष्टोपायता ज्ञानों के द्वारा प्रवृत्ति होती। किन्तु जब तक यह ज्ञान नहीं होता है कि यह कार्य मेरे प्रयत्न के विना नहीं सिद्ध हो सकता, अतएव यह मेरे द्वारा किये जाने योग्य है, तब तक वह इष्टोपाय ही नहीं होता, और तब तक प्रवृत्ति भी नहीं होती है। अतः मानना होगा कि कार्य बुद्धि ही प्रवृत्ति का कारण होती है। और प्रवर्तक ही शब्द के द्वारा वाच्य होता है अतएव कार्य के ही वेदवेद्य (वेद प्रतिपाद्य) होने के कारण सिद्ध ब्रह्म प्राप्तिरूप अनन्त एवं स्थिर फल का ज्ञान नहीं होने के कारण तथा चातुर्मास्य याग करने वालों की अनन्त एवं अक्षय्य फल की प्राप्ति होती है; इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्मों के ही अनन्त तथा स्थिर फल प्रदायक रूप से प्रतिपादन किये जाने के कारण कर्मों के फल अल्प एवं अस्थिर होते हैं तथा ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त तथा स्थिर होता है, अतएव ब्रह्म विचार का आरम्भ करना चाहिये, इस प्रकार का कथन उचित नहीं है।

मू०—अत्राभिधीयते—निखिललोकविदित शब्दार्थसम्बन्धाव धारण प्रकारमपनुद्य सर्वशब्दानाम लौकिकैकार्थाव-बोधित्वावधारणं प्रामाणिका न बहुमन्यन्ते । एवं किलबालाः शब्दार्थं संबन्धमवधारयन्ति । माता पितृ प्रभृतिभिः अम्बातातमातुलादीन शशिपशुनरमृगसर्पा—दींश्च एनमवेहि इमं चावधारय इत्यभिप्रायेणाङ्गुल्या निर्दिश्य तैस्तैश्शब्दैः तेषु-तेषु अर्थेषु बहुशः शिक्षिताः शनैश्शनैः तैस्तैरेव शब्दैः तेषु—तेषु अर्थेषु स्वात्मनां बुद्ध्युत्पत्तिं दृष्ट्वा शब्दार्थयोः संबन्धान्तरादर्शनात् सङ्केतयितृपुरुषाज्ञानाच्च तेष्वर्थेषु तेषां शब्दानां प्रयोगो बोधकत्वनिबंधन इति निश्चिन्वन्ति । पुनश्च व्युत्पन्नेतर शब्देषु 'अस्य शब्दस्यायमर्थः' पूर्ववृद्धैः शिक्षिताः सर्वशब्दानामर्थमवगम्य परप्रत्ययनाय तत्तदर्थावबोधिवाक्यजातं प्रयुञ्जते ।

प्रकारान्तरेणापि शब्दार्थ सम्बंधावधारणं सुशकम् । केनचित् पुरुषेण हस्तचेष्टादिना पिताते सुखमास्त इति देवदत्ताय ज्ञापयेति प्रेषितः कश्चित् तज्ज्ञापने प्रवृत्तः । पितातो सुखमास्त इति शब्द प्रयुक्ते ।

पार्श्वस्थोन्यो व्युत्पित्सुः मूकवत् चेष्टाविशेषस्तज्ज्ञापने प्रवृत्तमिमं ज्ञात्वा अनुगतः तज्ज्ञापनाय प्रयुक्तमिमं शब्दंश्रुत्वा अयंशब्दः तदर्थ बुद्धिहेतुरिति निश्चिनोतीति कार्यार्थ एव व्युत्पत्तिरिति निर्बंधोनिर्निबंधनः । अतो वेदांताः परिनिष्पन्नं परं ब्रह्म तदुपासनं चापरिमितफलं बोधयन्तीति तन्निर्णयफलो ब्रह्म विचारः कर्त्तव्यः ।

अनु०-उपर्युक्त पूर्व पक्ष का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि सम्पूर्ण लोक में विदित जो शब्द एवं अर्थ के निश्चय प्रकार है उसको छोड़कर मीमांसको ने जो वैदिक तथा लौकिक सभी शब्दों को कार्य मात्र का जो निश्चायक माना है उसे प्रामाणिक (प्रमाणों के अनुसार अर्थों का निश्चय करनेवाले, विद्वान बहुत आदर नहीं देते हैं । लोक में बालक शब्दों एवं अर्थों के सम्बन्ध का निर्धारण इस प्रकार से करते हैं-माता पिता आदि बच्चों को पास बुलाकर-माता, पिता, मामा आदि संबन्धियों तथा चन्द्रमा पशु, मानव, मृग, पक्षी, सर्प आदि को अंगुलि से निर्देशकरके इस अभिप्राय से बतलाते है कि इन शब्दों तथा उनके वाच्यभूत अर्थों को वह जानले । इस तरह उन-उन शब्दो द्वारा उन-उन अर्थों के विषय में बारम्बार शिक्षित किये जाने पर धीरे धीरे उन उन शब्दों द्वारा ही उन उन अर्थो के विषय में अपनी बुद्धि की उत्पत्ति को देखकर शब्द अर्थ से संबन्धान्तर [बोधकत्व से

भिन्न] को नही जान सकने के कारण तथा संकेत करने वाले पुरुष अज्ञात नही हो सकने के कारण भी उन उन शब्दों का उन उन अर्थो में प्रयोग शब्दो का अर्थ से बोधकत्व संबन्ध के ही कारण होता है, इसतरह का निश्चय करते है। इसके पश्चात् वह अज्ञात शब्दो के विषय मे इस शब्द का यह अर्थ है, इस प्रकार से अपने माता पिता आदि से ज्ञान प्राप्त कर सभी शब्दो का अर्थ जान करके दुसरो को बतलाने के लिए विभिन्न अर्थों के बोधक वाक्य समूह का प्रयोग करता है।

इसके अतिरिक्त दुसरे प्रकार से भी शब्दो के अर्थ का निर्धारण करना आसान है। किसी व्यक्ति ने हाथ की चेष्टा आदि के द्वारा किसी को यह बतलाकर भेजा कि देवदत्त को जाकर बतला दो कि तुम्हारे पिता सुख पूर्वक है। वह व्यक्ति उस अर्थ को बतलाने के लिए जाकर देवदत्त को यह समाचार सुनाता है। उनके सन्निकट में रहने वाला कोई गूँगे के तरह चेष्टाओं को जानने वाला शब्दार्थों को जानने की इच्छा से उस व्यक्ति के साथ जाकर उन शब्दों को प्रयोग करते हुए सुनकर यह निश्चय करता है कि यह शब्द इस अर्थ के ज्ञान का कारण है। इस तरह उसे शब्दों के द्वारा सिद्ध अर्थ का ही ज्ञान होता है। इस प्रकार यह कहना कि सभी शब्दों के द्वारा कार्य रूप अर्थ का ही ज्ञान होता है, असंगत है। इसी तरह वेदान्त वाक्य भी सिद्ध ब्रह्म तथा उसकी उपासना का अनन्त और अक्षय्य फल बतलाते हैं। इसलिए इसी का निर्णय करने के लिए ब्रह्म विचार करना चाहिये।

मू०—कार्यार्थत्वेऽपि वेदस्य ब्रह्मविचारः कर्तव्य एव । कथम्?
" आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० ४।४।५) 'सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) ' विज्ञायप्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ६।४।२१) ' दहरोऽस्मिनंतर आकाशस्तस्मिन्, यदंतस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा०४। १।१) 'तत्रापि दह्र गगनं विशोकः तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम् ' (तै० ना० १०।२३) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै० ३।१।१) इत्यादिभिः ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते इति ब्रह्मस्वरूप तद्विशेषणानाँ दुःखासंभिन्न देशविशेष रूप स्वर्गादिवत्, रात्रिसत्रप्रतिष्ठादिवत्, अपगोरणशतयातना साध्यसाधनभाववच्च कार्योपयोगितयैवसिद्धेः ।

अनु०—किञ्च यदि वेदों को कार्यार्थक भी माना जाय तो भी ब्रह्म विचार करना ही चाहिये क्योंकि निम्न वेदान्त वाक्यों में ब्रह्म की प्राप्ति सुनी जाती है । वे वाक्य निम्न है— अरे ! गार्गि ! आत्मा का दर्शन करना चाहिये, तदर्थ श्रवण मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिए । इस आत्मा के भीतर जो अन्तर्यामी परमात्मा है उसी का अन्वेषण करना चाहिये तथा उसी की विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये ।' उस ब्रह्म के स्वरूप

को विशेषरूप से जानकर उसका ध्यान करना चाहिये।' उस हृदय के भीतर परमात्मा रूपी सूक्ष्म आकाश है, उस परमात्मा के जो कल्याण गुण हैं, निश्चय ही उनका अनुभव तथा विशेष जिज्ञासा करनी चाहिए।' 'हृदयकोश में सूक्ष्माकाश है। उस सूक्ष्माकाश का स्वरुप आनन्दमय है और शोक रहित है। उस सूक्ष्माकाशरूप परमात्मा के अन्दर जो कल्याण गुण है उनकी उपासना करनी चाहिए। ये सभी वाक्य बतलाते हैं कि उपासना से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। 'ब्रह्म को जानने वाला परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।' यह श्रुति भी ब्रह्म की प्राप्ति उपासना द्वारा बतलाती है। इस तरह ब्रह्म के स्वरूप और उसके विशेषणों (ब्रह्म के गुण और विभूतियाँ) की सिद्धि कार्योपयोगी रूप से उसी तरह होती है, जिस तरह दुःख रहित देश विशेष स्वर्ग प्रधानार्थ भूत अपूर्व साध्य से विलक्षण है। जिस तरह अर्थवाद वाक्य से प्रतिष्ठा की प्राप्ति रात्रिसत्र का फल समझा जाता है, तथा अपगोरण के फल रूप में शत यातना अर्थवाद रूप से बतलायी जाती है।

टिप्पणी-विधिवाक्योक्त फलका अर्थवादोक्त विशेषण में तात्पर्य है, इस अर्थ को बतलाने के लिए दुःखासंभिन्न देश विशेष रूप स्वर्गादिवत् कहा गया है। स्वर्ग का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि—'यस्मिन्नोष्णं न शीतं नारतिः अर्थात् जहाँ पर शीत उष्ण तथा उदासीनता रूप बाधाएँ नहीं होती हैं।

विधि वाक्य में फल का वर्णन नहीं होने पर भी विधि

वाक्य के द्वारा अपेक्षित अन्यपरक अर्थवाद वाक्य कथित फल में ही उसका तात्पर्य है, इस अर्थ को बतलाने के लिए रात्रि सत्र प्रतिष्ठावत् कहा गया है। 'रात्रीरूपेयात् प्रतितिष्टन्ति हवा एते य एता रात्रीरूपयन्ति' यह श्रुति रात्रिसत्र प्रतिष्ठा का वर्णन करती है। यद्यपि यहाँ पर 'प्रतिष्ठाकाम उपेयात्' यह नहीं कहा गया है, फिर भी अर्थवादोक्त फल में ही इसका तात्पर्य है, यह स्वीकार किया गया है।

विधेय के उपकारक विरोधी फल में तात्पर्य है इस अर्थ को बतलाने के लिए 'अपगोरण शतयातना साध्यसाधन भाववत्' यह कहा गया है। यहाँ पर विधेय अपगोरण निवृत्ति है और उसका उपकारक अपगोरण गत शतयातना अनिष्ट साधनत्व है। अपगोरण शतयातना का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है-'तस्माद् ब्राह्मणाय नापगुरेत......योऽपगुरुते तं शतेन यातयात्' अर्थात् अत्यन्त अनिष्ट कारक होने के कारण ही ब्राह्मण के अपगोरण (वध) का संकल्प नहीं करना चाहिए। जो ब्राह्मण के वधका संकल्प करे उसके लिए यमराज सौ वर्षों वाली नरक यातना उत्पन्न करे।' मूल में अपगोरण पद से बध का उद्योग बतलाया गया है तथा शतयातना पद से उस नरक विशेष को बतलाया गया है जहाँ पर ब्राह्मण बध करने का संकल्प करने वाले जीव को सौ वर्षों तक नाना प्रकार के असह्य कष्टों को सहना पड़ता है।

॥ प्रवर्तक वाक्यों की कार्यार्थ में व्युत्पत्ति असंभव ॥

मू०—गामानयेत्यादिष्वपिवाक्येषु न कार्यार्थे व्युत्पत्तिः,

भवदभिमतकार्यस्य दुर्निरूपत्वात् । कृतिभावभावि कृत्युद्देश्यं हि भवतः कार्यम् । कृत्युदेश्यत्वञ्च कृतिकर्मत्वम् । कृतिकर्मत्वञ्च कृत्याप्तुमिष्टतमत्वम् । इष्टतमं च सुखं वर्तमान दुःखस्य तन्निवृत्तिर्वा । तत्रेष्ट सुखाद्यर्थिना पुरुषेण स्वप्रयत्नादृते यदि तदसिद्धिः प्रतीता, ततः प्रयत्नेच्छुः प्रवर्तते पुरुष इति न क्वचिदपि इच्छाविषयस्य कृत्यधीन सिद्धित्वमन्तरेण कृत्युद्देश्यत्वं नाम किञ्चदप्युपलभ्यते । इच्छाविषयस्य प्रेरकत्वं च प्रयत्नाधीन सिद्धित्वमेव, तत एव प्रवृत्तेः ।

न च पुरुषानुकूलत्वं कृत्युद्देश्यत्वं, यतः सुखमेव पुरुषानुकूलम्, न दुःखनिवृत्तेः पुरुषानुकूलत्वम् । पुरुषानुकूलं सुखम् तत्प्रतिकूलं दुःखमिति सुखदुःखयोः स्वरूप विवेकः । दुःखस्य प्रतिकूलतया तन्निवृत्तिरिष्टा भवति, नानुकूलतया । अनुकूल प्रतिकूलान्वयविरहे स्वरूपेणावस्थितिर्हि दुःखनिवृत्तिः । अतः सुखव्यतिरिक्तस्य क्रियादेरनुकूलत्वं न सम्भवति । न सुखार्थतया तस्याप्यनुकूलत्वम्, दुःखात्मकत्वात्तस्य सुखार्थतयापि तदुपादानेच्छामात्रमेव भवति ।

संगति- उपर्युक्त अनुच्छेद में वताया गया है कि वैदिक वाक्यों की सिद्धार्थ में भी व्युत्पत्ति होती है। प्रस्तुत अनुच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि 'गामानय' इत्यादि प्रवर्तक वाक्यों की भी व्युत्पत्ति कार्यार्थ में नहीं होती है।

अनु० -- 'गाम आनय' इत्यादि वृद्धव्यवहार द्वारा प्रयुक्त जो प्रवर्तक लौकिक वाक्य हैं, उनकी भी ब्युत्पत्ति कार्य रुपी अर्थ में नही होती है, क्योंकि प्राभाकर मीमाँसकों के अभि-मत कार्य का निरुपण ही नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उनके मत में कार्य, का स्वरुप - कृतिभावभावि कृत्युद्देश्यत्व रुप है। (यहां पर कृति शब्द से आन्तर प्रयत्न को लिया गया है, उसके सद्भाव के पश्चात् होने वाला जो कृति के साध्य रुप, कृत्युद्देश्य होता है उसी को कार्य कहतें हैं। अतएव उन मीमांसकों के मत मे कार्य के लिए तीन गुणों का होना अपेक्षित है। (१) कृतिसाध्यत्व, [२] इष्टतमत्व और [३] कृत्यु-द्देश्यत्व। यहाँ पर कृत्युद्देश्यत्व का अर्थ है कृति प्रधानत्व। उनके मत में कार्य ही प्रधान है।) और कृति (आन्तर प्रयत्न) के कर्म को कृति का उद्देश्य कहते हैं। कृति के द्वारा जो प्राप्त करने के लिए इष्टतम होता है उसे कहते हैं कृति का कर्म। अब प्रश्न यह उठता है कि इष्टतम क्या है? तो सुख अथवा वर्तमान दुःख को निवृत्ति ही इष्टतम है। उसमें सुख अथवा दुःख को चाहने वाला मनुष्य जब देखता है कि यह (सुख की प्राप्ति अथवा वर्तमान दुःख की निवृत्ति) विना मेरे प्रयास के नहीं होगी तो वह प्रयत्नेच्छु (उस

कार्य को करने की इच्छावाला) पुरुष इस कार्य को करने में लग जाता है। इस तरह जो इच्छा का विषय होता है उसकी सिद्धि कृति के विना नहीं हो सकती। अतः उससे भिन्न कृति के उद्देश्य नामक वस्तु की उपलब्धि कही नही होती है। प्रयत्न के अधीन होने वाली सिद्धि ही इच्छा के विषय की प्रेरकता कहलाती है। क्योंकि प्रयत्न के ही द्वारा पुरुष की उस कार्य में प्रवृत्ति होती है। (इस तरह सिद्ध हुआ कि कृत्युद्देश्यता जो प्राभाकर मीमाँसकों के अभिमत कार्य की प्रधान विशेषता है उसका इष्टतमत्व अथवा कृति साध्यत्व इन दोने में से किसी एक मे ही अन्तर्भाव हो जाना चाहिए।)

इस पर यदि प्राभाकर मीमासक कृत्युद्देश्यत्व का लक्षण करते हुए यह कहें कि जो पुरुष के अनुकूल होता है उसे ही कृति का उद्देश्य कहते हैं, तो यह भी कहना उचित न होगा। क्योंकि पुरुष के अनुकूल तो सुख ही है, दु:ख की निवृत्ति को पुरुष के अनुकूल नही माना जा सकता है। क्योंकि सुख एवं दु:ख के स्वरुप में यह भेद है कि जो पुरुष के अनुकूल होता है, उसे सुख कहते हैं और जो पुरुष के प्रतिकूल होता है उसे दु:ख कहते हैं। चूंकि दु:ख प्रतिकूल होता है इस लिए उसकी निवृत्ति पुरुष को इष्ट होती है, अनुकूल होने के कारण नहीं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल कोटि मे गणना के अभाव में स्वरूपतः उपस्थिति को ही दु:ख निवृत्ति माना जा सकता है। अत एव सुख से भिन्न क्रिया आदि भी अनुकूल नही हो सकते।

यह नहीं कहा जा सकता है कि चूंकि क्रिया आदि का भी प्रयोजन सुख ही होता है, अतएव क्रिया आदि को भी अनुकूल ही मानना चाहिए। क्योंकि क्रिया आदि तो दुःख रूप ही होते हैं। यद्यपि क्रिया आदि का प्रयोजन सुख होता है फिर भी सुख के प्रयोजन होने से केवल क्रिया को करने की इच्छा मात्र ही हो सकती है, क्रियाओं का आचरण नहीं। यदि कहें कि कृति के शेषी को ही कृति का उद्देश्य कहते है, तो यह नहीं कह सकते क्योंकि आपके सिद्धान्त में शेषित्व का निरूपण ही नही किया जा सकतहै।

टिप्पणी -- ततः प्रयत्नेच्छुः प्रवर्तते पुरुषः- इत्यादि वाक्य में 'प्रयत्नेच्छुः प्रवर्तते' इस वाक्यांश के द्वारा यह बतलाया गया है कि प्रयत्न करने की इच्छा करने वाला पुरुष पहले अनन्तर प्रयत्न की इच्छा करता है, फिर इष्टतमावाप्त्यनुकूल क्रिया में प्रवृत हो जाता है। उस इष्टतम के ही दो रूप होते है - इच्छाविषयत्व और प्रेरकत्व। वह प्रेरकता ही कृति की उद्देश्यता है, इसी अर्थ को अभिव्यक्त करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं- 'कृत्युद्देश्यत्वं न किंचिदुपलभ्यते'। क्योंकि प्राभाकर मीमांसक के मत मे कार्य का लक्षण कृति भाव भावी कृति के उद्देश्य रूप है। यानी वह कृति साध्य होते हुए कृति के उददेश्य रूप है। वह कृति की उद्देश्यता कृति कर्मता रूप है। इस तरह वह प्रवर्तक ज्ञान का प्रकार ही है। यहां पर प्रवर्तकता इष्टतमत्व रूप है।

पुरुषानुकूलंसुखम्, तत्प्रतिकूलंदुःखम् – यह सुख और दुख का लक्षण करते हुए श्री भाष्यकार ने अनुकूल एवं प्रतिकूल

शब्द का जो प्रयोग किया है उसका आशय है कि – जो स्व-भावत: इष्ट हो उसे अनुकूल कहते हैं, कोई वस्तु इष्टान्तर का हेतु अथवा अनिष्ट की निवृत्त रूप होने से अनुकूल नही मानी जा सकती है। इसी तरह जो वस्तु स्वभावत: अनिष्ट हो वही प्रतिकूल कहलाती है, अनिष्टान्तर का हेतु अथवा इष्ट की निवृत्त रूप होने से वह प्रतिकूल नही मानी जा सकती है। दुःख की निवृत्ति भी स्वरूपत: इष्ट नही है इष्ट तो सुख की प्राप्तिमात्र है।

वह तो दुःख के प्रतिकूल होने के कारण इष्ट है। किन्तु दुःख की निवृत्ति सुख नहीं हो सकती है। क्योंकि यदि दुःख की निवृत को ही सुख मान लिया जाय तो फिर सुषुप्ति काल में सुख का संयोग मानना होगा। इसी तरह यदि दुःख की निवृत्ति को ही सुख का संयोग माना जाय तो फिर स्वाप काल मे भी सुख अथवा दुःख का अन्वय होने लगेगा।

॥ शेष का लक्षण ॥

मूल ०– नच कृतिं प्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वम् (भवत्पक्षे शेषित्वस्यानिरूपणात्। न च परोद्देश प्रवृत्तकृति-व्याप्त्यर्हत्वं शेषत्वमिति, तत् प्रतिसंबन्धीशेषीत्यव-गम्यते, तथा सति कृतेरशेषत्वेन तां प्रति तत्साध्यस्य शेषित्वाभावात्, न च परोद्देशप्रवृत्त्यर्हतायाः शेष-

त्वेन परः शेषी, उद्देश्यत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात् प्रधानस्यापि भृत्योद्देश प्रवृत्यर्हत्वदर्शनाच्च । प्रधानस्तु भृत्यपोषणेऽपि स्वोद्देशेन प्रवर्तत इति चेन्न भृत्योऽपि हि प्रधानपोषणं स्वोद्देशेनैव प्रवर्तते । कार्यस्वरूपस्यैवानिरूपणात्, कार्यप्रति संबन्धीशेषः तत्प्रतिसंबन्धीशेषी त्यप्यसङ्गतम् ॥

यदि मीमांसक विद्वान यह कहें कि जो कृति का शेषी हो उसे ही कृति का उद्देश्य कहा जाता है (जैसे याग कृति का शेषी याग क्रिया है, अत एव याग कृति का उद्देश्य याग क्रिया है।) तो यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि मीमांसकों के मत में शेषित्व का निरूपण किया ही नहीं जा सकता है। यदि कहें कि वह कर्म जो परोद्देश प्रवृत्ति कृति का व्याप्य होता है उसे शेष कहते हैं, और उसके उद्देश्यभूत फल को शेषी जसै – स्वर्गोद्देश प्रवृत कृति व्याप्यता रूपी शेषत्व याग क्रिया में है, और उसका साध्य होने के कारण शेषित्व स्वर्ग में है।) तो यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उपर्युक्त प्रकार का शेषत्व कृति में नहीं रहने के कारण तत्साध्यभूत स्वर्ग का भी उसका शेषी होना नहीं सिद्ध हो सकता है। (कहने को आशय यह है कि (याग कृत्युद्देश्यत्व रूप कृति शेषित्व स्वर्ग में है याग में नहीं। अतः याग क्रिया को कृत्युद्देश्य रूप कृति का कार्य

नहीं माना जा सकता है। याग क्रिया स्वर्ग रूप फल का शेष इसलिए है कि स्वर्गोद्देश प्रवृत्त कृति का व्याप्य है। किन्तु याग की कृति तो स्वर्गोद्देश प्रवृत्त पुरुष की कृति है (अत एव उस कृति में उस कृति की व्याप्यता रूप शेषता है ही नही। फलतः उस कृति का शेषी याग रूप कर्म नही हो सकता है।

यदि कहें कि परोद्देश प्रवृत्ति की योग्यता को ही शेष कहते हैं और तदुद्दिष्ट जो फर होता है वही उसका शेषी होता है। (यद्यपि याग कृति में परोद्देश प्रवृत्त कृति व्याप्यता नही है, फिर भी उसमें परोद्देश प्रवृत्त्यर्हता तो है ही। याग क्रिया के ही समान स्वर्गोद्देश कृति में भी परोद्देश प्रवृत्यर्हता रूप शेषत्व के रहने के कारण उस कृति के द्वारा उद्दिष्ट शेषी याग क्रिया हुई। अतः कृति के उद्देश्य रुप कृति का कर्म, या साध्य, या जन्य(याग है।) तो यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उद्देश्यत्व का स्वरूप निरूपण करना चाहिये। (क्योंकि कृत्युद्देश्यता ही आपके यहाँ कृति-शेषिता है और शेष जन्य प्रधान फल के उपभोक्ता को शेषी कहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जिस तरह दण्ड ज्ञान के विना दण्डी का ज्ञान नहीं होता है उसी तरह शेषी के ज्ञान के लिए शेष का ज्ञान अपेक्षित है। वह शेष आपके मत में परोद्देश प्रवृत्यर्हत्व रुप है। इस तरह उद्देश्य पद का अर्थ उद्देश्यत्व ही हो गया इस तरह यहाँ पर आत्माश्रय दोष होगा

किञ्च ऐसा लक्षण मानने पर राजा में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि देखा जाता है कि) प्रधान राजा भी अपने से भिन्न भृत्यों के प्रयोजन सिद्धि के लिए भी प्रवृत्त होता है। अतएव राजा अपने भृत्य का शेष हो जायेगा।) यदि कहें कि राजा तो भृत्यों के पालन पोषण में अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है, अतएव उसमें परोद्देश प्रवृत्त्यर्हत्व रूप शेषत्व का लक्षण नही घट सकता है। तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि फिर भृत्य भी राजा का पोषण अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि कार्य के प्रधान फल के उपभोक्ता को शेष कहते हैं और शेष के प्रति संबन्धी (प्रधान फल के उपभोक्ता) को शेषी कहते है, क्योंकि आपके मत में भी शेषी के स्वरूप का निरूपण नहीं किया जा सकता है।

मू०—नापि कृतप्रयोजनत्वं कृत्युद्देश्यत्वम्। पुरुषस्य कृत्यारभ्य प्रयोजनमेव हि कृति प्रयोजनम् सचेच्छाविषयः। तस्मदिष्टत्वातिरेकि कृत्युद्देश्यत्वानिरूपणात् कृति साध्यता कृतिप्रधानत्वरूपं कार्यं दुर्निरूपमेव।

यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि कृति के प्रयोजन को ही कृति का उद्देश्य कहते हैं, क्योंकि पुरुष जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने प्रयोजन की सिद्धि के अनुकूल कार्य को आरम्भ करता है वही कृति का प्रयोजन होगा। इस तरह

कृति प्रयोजन का अर्थ हुआ कृति करने वाले पुरुष का प्रयोजन और वह प्रयोजन इष्ट होने के कारण इच्छा का विषय है। अतएव इष्टत्व से भिन्न कृत्युद्देश्यता नाम की वस्तु का निरूपण नहीं किया जा सकता है। अतः आपके मन में कृति साध्यता एवं कृतिप्रधानतारूप कार्य का निरूपण असंभव है।

मू०—नियोगस्यापि साक्षादिष्टविषय भूत सुखदुःख निवृत्तिभ्यामन्यत्वात् तत्साधनतयैवेष्टत्वं कृतिसाध्यत्वञ्च, अतएव हि तस्य क्रियातिरिक्तता; अन्यथा क्रियैव कार्यं स्यात् स्वर्गकाम पद समभिव्याहारानुगुण्येन लिङादि वाच्यं कार्यं स्वर्गसाधनमेवेति क्षणभङ्गिकर्मातिरेकि स्थिरं स्वर्गसाधनमपूर्वमेव कार्यमिति स्वर्गसाधनतोल्लेखेनैव ह्यपूर्वव्युत्पत्तिः, अतः प्रथममन्यार्थतया प्रतिपन्नस्य कार्यस्यानन्यार्थत्वनिवर्हणायापूर्वमेव पश्चात् स्वर्गसाधनं भवतीत्यवगम्यते, स्वर्गकामपदान्वितकार्याभिधायिपदेन प्रथममप्यनन्यार्थतानभिधानात् सुखदुःखनिवृत्तितत्साधनेभ्योऽन्यस्यानन्यार्थस्य कृतिसाध्यता प्रतीत्यनुपपत्तेश्च।

अनु०—नियोग भी इच्छा के साक्षात् विषय बनने वाले सुख एवं दुख की निवृत्ति से भिन्न होने के कारण, इन से भिन्न है। किन्तु वह सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति

का साधन होने के कारण ही इष्ट एवं कृति साध्य है। इस लिए ही वह क्रिया से अतिरिक्त है। ऐसा नहीं मानने पर क्रिया ही कार्य बन जायेगी। स्वर्गकामो यजेत' वाक्य में स्वर्गकाम पद के साथ-साथ पढे जाने के अनुकूल यजेत् पद में प्रयुक्त लिङ् आदि के वाच्यार्थभूत कार्य स्वर्ग के साधन ही हैं। अतएव क्षणभङ्गुर कार्य से भिन्न स्वर्ग का साधन स्थिर अपूर्व ही कार्य है, इस तरह से स्वर्ग के साधन रूप से ही अपूर्व का ज्ञान होता है। अतएव पहले अनन्यार्थ रूप से ज्ञात होने वाले कार्य की अनन्यार्थता के निर्वाह के लिए पीछे चल कर अपूर्व ही स्वर्ग का साधन होता है, यह मीमांसकों का कहना उपहासास्पद है। क्योंकि स्वर्गकाम पद से सम्बद्ध, कार्य के वाचक लिङादि पद के द्वारा पहले भी उस कार्य के साधन का अभिधान नहीं किया जाता है। किञ्च सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति तथा उसके साधनों से भिन्न अनन्यार्थ की कृतिसाध्यतारूप से प्रतीति की सिद्धि नही हो सकती है।

टिप्पणी-मीमांसकों का कहना है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित यागादि क्रिया तो क्षणिक हैं। अतएव उनके करने पर भी यद्यपि तदुत्तर क्षण में स्वर्गादि फलों की प्राप्ति नहीं होती है, फिर भी उन कार्यों के करने पर अनुष्ठाता में एक स्थायी अपूर्व की उत्पत्ति हो जाती है। उसी अपूर्व के द्वारा देहपात के पश्चात् जीव को स्वर्गादि फलों की प्राप्ति होती है। वह अपूर्व ही याग के अनुष्ठाता

की इच्छा के विषयभूत स्वर्ग का साधकतम है। अतएव वह इष्ट और क्रिया साध्य है। कृति साध्य होने के ही कारण वह क्रिया से भिन्न भी है। 'स्वर्गकामो यजेत' में स्वर्गकाम पद के साथ पढे गये यजेत के लिङादि के द्वारा उसी अपूर्व का ही बोध होता है। इस तरह प्रधान होने के कारण वह अपूर्व याग क्रिया से भिन्न उसका साध्य है तथा स्वर्ग का कारण है। अतएव स्वर्ग की अपेक्षा अप्रधान है। इस तरह के मीमांसकों का सिद्धान्त उपहास्यास्पद इसलिए है कि मीमांसको ने अपूर्व को प्रधान बनाने के लिए उसे स्वर्ग का साधकतम बनाकर अप्रधान बना दिया। यह उसी तरह से है जिस तरह से स्वतन्त्र बनने के प्रयास में कोई परतन्त्र बन जाय।

वेदान्त सिद्धान्त मीमासकों के विचारों को नही स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त में माना जाता है कि जीव के कर्मो से प्रसन्न अथवा अप्रसन्न परमात्मा के सत्यसकल्प के कारण जीव देहपातानन्तर स्वर्गादिको प्राप्त करता है। इसका उपादान कारण जीवकृत कर्म ही हैं और तदनुकूल सुखादि का उत्पादक परमात्मा का सत्य संकल्प। श्री विष्णु पुराण में भी बतलाया गया है कि–

> प्रधान कारणी भूता यतोवै सृज्य शक्तयः।
> निमित्त मात्रंमुक्त्वेदं नान्यत् किञ्चिदपेक्षते ॥

अर्थात् सुख दुखादि की प्राप्ति के प्रधान (उपादान) कारण सृज्य जीवो की शक्तियाँ (कर्म) ही है और निमित्त कारण परमात्मा है। इन दोनों को छोडकर सुख दुःखादि की प्राप्ति के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नही है।

मू०- अपि च किमिदं नियोगस्य प्रयोजनत्वम्? सुखवत् नियोगस्यापि अनुकूलत्वमेवेति चेत्, किं नियोगः सुखम् ? सुखमेव ह्यनुकूलम् । सुखविशेषवन्नियोगापर पर्यायं विलक्षणं सुखान्तरमितिचेत्, कि तत्र प्रमाणम् ? इति वक्तव्यम् । स्वानुभवश्चेन्न विषय विशेषानुभव सुखवन्नियोगानुभव सुखमिदमिति भवताऽपि नानुभूयते । शास्त्रेण नियोगस्य पुरुषार्थतया प्रतिपादनात् पश्चात् तु भोक्ष्यत इति चेत्, किं तत् नियोगस्य पुरुषार्थत्व वाचि शास्त्रम् ? न तावल्लौकिकं वाक्यम्, तस्य दुःखात्मक क्रियाविषयत्वात् तेन सुखादिसाधनतयैव कृतिसाध्यतामात्रप्रतिपादनात् । नापि वैदिकम्, तेनापि स्वर्गादि साधनतयैव कार्यस्य प्रतिपादनात् । नापि नित्य नैमित्तिक शास्त्रम् तस्यापि तदभिधायित्वम् स्वर्गकाम वाक्यस्थापूर्वव्युत्पत्ति पूर्वकमित्युक्त रीत्या तेनापि सुखादिसाधन कार्याभिधानमवर्जनीयम्, नियतैहिक फलस्य कर्मणोऽनुष्ठितस्य फलत्वेन तदानीमनुभूयमानान्नाद्यरोगतादिव्यतिरेकेण नियोगरूप सुखानुभवानुपलब्धेश्च, नियोगः सुखमित्यत्रन किञ्चन

प्रमाणमुपलभामहे । अर्थवादादिष्वपि स्वर्गादिसुखप्रकार कीर्तनवत् नियोगरूपसुखप्रकार कीर्तनं भवतापि न दृष्टचरम् ।

अनु०–अब प्रश्न यह उठता है कि अपूर्व पदवाच्य नियोग को प्रयोजन क्यों माना जाता है ? यदि कहें कि जिसतरह अनुकूलता ही सुख का प्रयोजन है, उसीतरह नियोग की भी प्रयोजनता अनुकलता ही है। तो मैं यहाँ पर यह पूछता हूँ कि क्या नियोग भी सुख ही है । क्योंकि सुख ही अनुकूल होता है । यदि कहें कि जिसतरह सुख विशेष होता है उसीतरह नियोग शब्द से एक दूसरे प्रकार का विलक्षण सुख ही कहाजाता है । तो मैं यहाँपर यह पूछता हूँ कि आप के इस कथन में क्या प्रमाण है? यदि कहे कि इसमे प्रमाण अपना अनुभव ही है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि आप भी इसप्रकार से नियोग का अनुभव नहीं करते है कि जिसतरह से किसी खास विषय के अनुभव से सुख होता है उस तरह यह नियोग के अनुभवरूपी सुख की उपलब्धि हो रही है । यदि कहें कि यद्यपि नियोग का सुखरूप का अनुभव नहीं होता है फिर भी चूँकि शास्त्र उसका पुरुषार्थ रूप से प्रतिपादन करते है, जिसका कर्मों के परिपाक दशा में उपयोग किया जायगा। तो मैं यह जानना चाहूँगा कि नियोग (अपूर्व) को पुरुषार्थरूप से बतलाने वाला शास्त्र कौन है ? कोई लौकिक वाक्य तो इसलिए नहीं हो सकता है कि लौकिक वाक्य

तो दुःखात्मक क्रिया को ही अपना विषय बनाते हैं तथा उसके द्वारा दुःख के साधनभूत धात्वर्थ मात्र का कर्तव्यतारूप से प्रतिपादन करते हैं। वैदिक वाक्यों को इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि वे भी स्वर्ग आदि के साधनरूप से यागादि क्रियाओं का प्रतिपादन करते हैं। नित्य नैमित्तिक कर्मों के प्रतिपादक स्मृतियों को इसलिए नहीं माना जा सकता है कि स्मृतियाँ भी स्वर्ग का अभिधान स्वर्ग काम वाक्य में विद्यमानअपूर्व ज्ञानपूर्वक ही करती हैं। इसतरह से नित्य नैमितिक शास्त्र के द्वारा भी सुखआदि के साधनभूत कार्य का ही अभिधान होता है। नियतरूप से इस लोक सबन्धी फल देने वाले, अनुष्ठित कर्मों के फलरूप से प्राप्त उसकाल में ही अनुभव कियेजाने वाले अन्न आदि की प्राप्ति, आरोग्य इत्यादि की प्राप्ति से भिन्न, नियोग (अपूर्व) रूपी सुख के अनुभव की कहीं भी उपलब्धि नहीं होती है, अतएव नियोग को सुख मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है। देखा जाता है कि जिसतरह अर्थवाद वाक्यों में भी स्वर्गादिरूप सुख का वर्णन आप मानते हैं उसीतरह नियोगरूपी सुख का वर्णन आप भी नहीं मानते हैं।

मू०-अतो विधि वाक्येष्वपि धात्वर्थस्य कर्तृव्यापारसाध्यतामात्र शब्दानुशासनसिद्धमेव लिङादेर्वाच्यमित्यवसीयते। धात्वर्थस्य च यागादेरग्न्यादिदेवनान्तर्यामिपरमपुरुष समाराधनरुपता, समाराधितात् परमपुरुषात्

फलसिद्धिश्चेति, "फलमत उपपत्तेः" इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते, अतो वेदान्ताः परिनिष्पन्नं परं ब्रह्म बोधयन्तीति ब्रह्मोपासनफलानन्त्यं स्थिरत्वं च सिद्धम्। चातुर्मास्यादि कर्मस्वपि केवलस्य कर्मणः क्षयिफलत्वोऽ देशादक्षयफल श्रवणं 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इत्यादिवदापेक्षिकं मन्तव्यम्; अतः केवलानाँ कर्मणामल्पास्थिरफलत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य चानन्तस्थिर फलत्वात् तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारारम्भो युक्त इति स्थितम्।

अनु०—चूँकि लौकिक और वैदिक शब्दों के द्वारा अपूर्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता है अतएव विधि वाक्यों में भी विधि प्रत्यय के द्वारा याग रूप क्रिया को कर्तृव्यापार साध्य मात्र ही बतलाया जाता है। क्रिया का स्वरूप यज् धातु बतलाता है। लिङादि का वाच्यार्थ क्रिया का कर्तृव्यापार साध्यता मात्र है। यह व्याकरण शास्त्र से सिद्ध है। धात्वर्थ तो याग आदि के अग्नि आदि देवता तथा उसके अन्तर्यामी परमपुरुष की अराधना रूप है, इस अर्थ को हम 'फलमत उपपत्तेः' (शा० मी० ३।२।३७) इस सूत्र के श्रीभाष्य में बतलायेंगे।

इस तरह सिद्ध हुआ कि वाक्य सिद्ध अर्थ के बोधक हैं, अतएव वेदान्त सिद्ध (परिनिष्पन्न) परंब्रह्म का बोध कराते हैं। अतएव ब्रह्म की उपासना रुपी फल की अनन्तता, तथा

स्थिरता सिद्ध होती है। चातुर्मास्य आदि कर्मों में भी अक्षय फलों की प्राप्ति उसी तरह आपेक्षिक हैं, जिस तरह (वृ० उ० ४।३।२) में श्रुति अनित्य भी वायु और अन्तरिक्ष को वायु और अन्तरिक्ष नित्य' हैं यह बतलाती है। ऐसा इस लिए कहा जाता है कि केवल कर्मों का फल क्षयिष्णु होता है।

अतएव ब्रह्म की उपासना के अभाव में केवल तत् तत् फलावाप्त्यर्थ किये गये कर्मों के फल अल्प और अस्थिर होते हैं। और ब्रह्मज्ञान के फल अनन्त और स्थिर होते हैं,। इसलिए ब्रह्म के स्वरूपादि का निर्णय करने के लिए ब्रह्मविचार रूप वेदान्त शास्त्र को आरम्भ करना उचित ही है।

जिज्ञासाधिकरण समाप्त

जन्माद्यधिकरण

कि पुनस्तद्ब्रह्म, यज्जिज्ञास्यमुच्यते, इत्यत्राह–

जन्माद्यस्य यतः ॥ १।१।२

जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयम् । तद्गुण संविज्ञानो बहुव्रीहिः । अस्य अचिन्त्य विविध विचित्ररचनस्य नियतदेशकालभोग ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यंत क्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतः । यतः–सर्वेश्वरात् निखिलहेयप्रत्यनीक स्वरूपात्, सत्यसंकल्पात् ज्ञानानंदाद्यनंत कल्याण गुण गणात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः परमकारुणिकात्, परस्मात् पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्ते तद् ब्रह्मेति सूत्रार्थः ।

अनु०–अब प्रश्न यह उठता है कि वह ब्रह्म कौन है,? जिसको (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ' सूत्र में समस्त पुरुषार्थों के परित्याग पूर्वक उपाय एवं प्राप्यरूप से) जानने के योग्य बतलाया गया है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिससे जगत् के जन्म आदि (पालन लय) होते हैं। वही ब्रह्म है ।

सूत्र के जन्मादि पद सृष्टि स्थिति और प्रलय को बतलाता है । इस पद में तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है । अचिन्त्य अनेक अद्भूत रचना युक्त जड तथा निश्चित देशकाल

में अपने कर्मों के फलों को भोगने वाले ब्रह्मा से लेकर एक छोटे तृण पर्यन्त जीव मिश्रित जगत् को बतलाता है। यतः पद यह बतलाता है कि जिस सम्पूर्ण जगत् के नियामक अखिलहेयप्रत्यनीक (सभी दोषों के विरोधी) स्वरुप, सत्यसंकल्प वाले, ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त कल्याण गुणों से युक्त सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिसम्पन्न परम कारूणिक पुरुष से सृष्टि स्थिति एवं प्रलय होते हैं, वही ब्रह्म है यह सूत्र का (सिद्धन्तानुकूल) अर्थ हुआ।

टिप्पणी – शास्त्रों में सात प्रकार की संगति होती है। १ - शास्त्र संगति २ - काण्ड संगति ३ - द्विक संगति ४- अध्याय संगति ५ - पाद संगति ६ - पेटिका संगति और ७ - अधिकरण संगति। यहाँ पर वेदार्थ विचार रूपी शास्त्र संगति है। वेदान्तार्थ विचार रूपी काण्ड सङ्गति है। कारण विषयक विचार होने के कारण यहां द्विक संगति है। कारण विषयक वाक्य विचार रूपी अध्याय संगति है। अयोग व्यवच्छेद विश्रान्ति के कारण यहां पर पाद संगति है। इस सूत्र के शास्त्रारम्भार्थक होने के कारण पेटिका संगति है। और "किं पुनस्द् ब्रह्म 'इत्यादि सूत्र के अवतारिका वाक्य से मूल भाष्य में अधिकरण संगति बतलायी गयी है।

जन्मादि पद में तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास बतलाया गया है। इसका आशय है कि बहुब्रीहि समास दो प्रकार का

होता है तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि तथा अतद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि । तद्गुण में तत् शब्द विशेष्य को बतलाता है तथा गुण शब्द विशेषण को बतलाता है । इस तरह जहाँ विशेषण और विशेष्य अपृथक् सिद्ध संम्बन्ध से ही कार्य में अन्वित होकर उसको साथ साथ बतलाते हैं , वहां पर तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास होता है । तद्गुण संवि-ज्ञान पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार से समझनी चाहिए –
' तस्य अन्य पदार्थस्य गुण उत्पत्तिपदार्थः , तस्यापि क्रिया-न्विततया संविज्ञान' येन सः । ' इस तरह यह वहुब्रीहि समास तत्पुरुष गर्भित होता है । 'लम्बकर्णम् आनय' आदि इसके उदाहरण हैं । अतद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि में विशेषण विशेष्य में अपृथक् सिद्ध सन्बन्ध नहीं होता है । जैसे चित्रगुम् आनय' । लम्बकर्ण पुरुष को लाने पर उसके कर्ण साथ साथ आ जाते हैं । किन्तु चित्रगु पुरुष के साथ तो उसकी चित्र विचित्र गायों का आना आवश्यक नहीं है ।

पूर्व पक्ष

मूल ० 'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्म ।" इत्यारभ्य " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत प्रयन्त्यभि संविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्म । " (तै ० उ० २।१) इति श्रूयते । तत्र

संशयः— किमस्माद् वाक्यात् ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपत्तु शक्यते, न वा? इति किं प्राप्तम्? नशक्यमिति। न तावज्जन्मादयो विशेषणत्वेन ब्रह्म लक्षयन्ति, अनेक विशेषणव्यावृत्तत्वेन ब्रह्मणोऽनेकत्व प्रसक्तेः। विशेषणत्वं हि व्यावर्तकत्वम्। ननु 'देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षः समपरिमाणः' इत्यत्र विशेषण बहुत्वेऽप्येक एव देवदत्तः प्रतीयते, एवमत्राप्येकमेव ब्रह्म भवति। नैवम्, तत्र प्रमाणान्तरेणैक्य प्रतीतेरेकस्मिन्नेव विशेषणानामुपसंहारः, अन्यथा तत्रापि व्यावर्तकत्वेनानेकत्वमपरिहार्यम्। तत्र त्वनेनैव विशेषणेन लिलक्षयिषितत्वात् ब्रह्मणः प्रमाणान्तरेणैक्य मनवगतमिति व्यावर्तकभेदेन ब्रह्मबहुत्वमवर्जनीयम्। ब्रह्मशब्दैक्यादत्राप्यैक्यं प्रतीयत इति चेत्; न अज्ञातगोव्यक्तेः जिज्ञासोः पुरुषस्य 'खण्डो, मुण्डो पूर्णश्रृङ्गो गौः' इत्युक्ते गोपदैक्येऽपि खण्डत्वादि व्यावर्तकभेदेनगोव्यक्तिबहुत्व प्रतीतेः ब्रह्मव्यक्तयोऽपि बह्वयः स्युः। अतएव लिलक्षयिषिते वस्तुन्येषां विशेषणानां सम्भूय लक्षणत्वमप्यनुपपन्नम्।

नाप्युपलक्षणत्वेन लक्षयन्ति आकारान्तराप्रतिपत्तेः। उपलक्षणानामेकेनाकारेण प्रतिपन्नस्य केनचिदाकारान्तरेण प्रतिपत्तिहेतुत्वं हि दृष्टम् 'यत्रायं सारसः स देवदत्त केदारः, इत्यादिषु।

ननु च 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' इति प्रतिपन्नाकारस्य जगज्जन्मादीन्युपलक्षणानि भवन्ति। न, इतरेतर प्रतिपन्नाकारापेक्षत्वेनोभयोर्लक्षणत्वेनोभयोर्लक्षण वाक्ययोरन्योन्याश्रयणात्, अतोन लक्षणतो ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति।

अनुवाद तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली के प्रथम अनुवाक में-वरुण ऋषि के पुत्र भृगु निश्चय ही अपने पिता वरुण के सन्निकट में (छात्रत्वोपयोगी उपहारपाणि होकर) गये और साष्टाङ्ग प्रणिपात पूर्वक निवेदन किये) भगवन्! मुझे ब्रह्म को बतलायें। यहाँ से लेकर 'जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा पालित होकर जीते हैं, पुनः जिसमें लीन होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, वही ब्रह्म है, उसे ही जानने की कोशिश करो' यह सुना जाता है।

यहाँ पर शंका होती है कि क्या इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म का लक्षण जाना जा सकता है? अथवा नहीं। क्या माना जाय? तो इसका उत्तर देते हुए पूर्व पक्षी का कहना है कि

इस वाक्य द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इसलिए कि जन्मादि ब्रह्म का विशेषण बनकर उसको नहीं लक्षित कर सकते क्योंकि अनेक विशेषणों से विभक्त होकर ब्रह्म अनेक हो जायेंगे। क्योंकि व्यावर्तक (विभाजक) को ही विशेषण कहते हैं।

अब यह प्रश्न यह उठता है कि देवदत्त साँवला, युवक लाल-लाल आँखो वाला तथा सुगठित शरीर वाला है, इस वाक्य में देवदत्त के अनेक विशेषण आये हुए हैं, किन्तु एक ही देवदत्त प्रतीत होता है। इसीतरह यहाँ भी एक ही ब्रह्म प्रतीत होगा। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि दूसरे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से देवदत्त की एकता का ज्ञान होने से एक ही देवदत्त में सभी विशेषणों का उपसंहार होता है, अन्यथा यहाँ भी भेदकों की अनेकता के द्वारा देवदत्त की अनेकता अपरिहार्य है।

यहाँ तो इन जन्म आदि विशेषणो मात्र से ही ब्रह्म को लक्षित किया जा रहा है, दूसरे प्रमाणों के द्वारा उसकी एकता तो ज्ञात है नही, अतएव व्यावर्तकों के भेद के कारण ब्रह्म का बहुत्व अवर्जनीय है।

यदि कोई यह कहे कि चूकि ब्रह्म शब्द का प्रयोग एक वचनान्त है अतएव यहाँ भी उसकी एकता प्रतीत होती है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जो गोव्यक्ति को नहीं जानता उसे यदि कहाजाय कि 'खण्ड' मुण्ड और पूर्णश्रृङ्ग गौ है

इस वाक्य में यद्यपि गौ पद एक वचनान्त है, फिर भी जिसतरह खण्डत्व आदि व्यवर्तकों के भेद के कारण गोव्यक्ति की अनेकता प्रतीत होती है, इसीतरह विशेषण भेद के कारण ब्रह्म भी अनेक हो जायेंगे।

इसलिए लिलक्षयिषित वस्तु ब्रह्म के विषय में ये सभी विशेषण एक साथ मिलकर भी उसका लक्षण नहीं हो सकते है।

ये सभी विशेषण ब्रह्म के उपलक्षण भी बनकर उसको नहीं लक्षित कर सकते है, क्योंकि ब्रह्म का पहले से कोई दूसरा आकार ज्ञात नहीं है। और देखा जाता है कि किसी एकरूप से ज्ञात वस्तु का किसी दुसरे प्रकार से ज्ञात कराने का काम उपलक्षण किया करते हैं। जैसे जहाँ पर यह सारस पक्षी है वही देवदत्त का खेत है।

यदि कहा जाय कि सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म इस श्रुति के द्वारा ज्ञात ब्रह्म का जगत् जन्मादि उपलक्षण है। तो यह भी कहना उचित न होगा। क्योंकि परस्पर ज्ञात आकार की अपेक्षा होने के कारण दोनों लक्षण वाक्यों में अन्योन्याश्रय दोष होगा अतएव ब्रह्म का लक्षणतः ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

टिप्पणी—उपलक्षणानामेकेनाकारेण प्रतिपन्नस्य इत्यादि वाक्य का आशय है कि उपलक्षणों में तीन बात का होना अनिवार्य है १—उपलक्षण २—उपलक्ष्य और ३—उपलक्ष्य का पूवज्ञात आकार। जैसे—जहाँपर सारस पक्षी है वही देवदत्त का क्षेत्र है। यहाँ पर उपलक्षण सारस का संबन्ध, उपलक्ष्य देवदत्त का स्वामित्व और पूर्वज्ञात आकार क्षेत्रत्व है।

इतरेतर प्रतिपन्नाकार—इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि सत्यं ज्ञानम् आदि वाक्योदित सत्यत्व आदि ब्रह्म का विशेषण बनकर ब्रह्म को लक्षित करते है अथवा उपलक्षण बनकर। विशेषण बनकर कहें तो इनमें भी ब्रह्म की अनेकता का प्रसङ्ग होगा। यदि उपलक्षण बनकर करते है तो फिर उनके भी उपलक्षण बनने के लिए ब्रह्म के अकारान्तर को पूर्वज्ञात होना चाहिये। वह किसतरह से हुआ। यदि इन दोनों वाक्यों से भिन्न किसी दूसरे वाक्य से बतलायें तो फिर वहाँ आकारान्तरज्ञापक वाक्यान्तर की जिज्ञासा होगी। इसतरह अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था दोष होगा। यदि उसी वाक्य से कहें तो आत्माश्रय दोष होगा। यदि 'यतोवा इमानि' आदि वाक्य से कहें तो फिर अन्योन्याश्रयदोष होगा। क्योंकि जबतक यतोवा इत्यादि वाक्य ब्रह्म से आकारान्तर का ज्ञान नही होगा तव तक जगज्जन्मादि उपलक्षण नहीं बन सकते और तब तक 'यतोवा' इत्यादि वाक्य से ब्रह्म के आकारान्तर का ज्ञान नहीं होगा, तब तक जगज्जन्मादि ब्रह्म के उपलक्षण नहीं होंगे

सिद्धान्त-जगज्जन्मादिका ब्रह्मोपलक्षणत्व ॥

सू०—एवं प्राप्तेऽभिधीयते जगत् सृष्टि स्थिति प्रलयै रुपलक्षणभूतैर्ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यते। न ह्योपलक्षणो पलक्ष्याकारव्यतिरिक्ताकारान्तराप्रतिपत्तौ ब्रह्माप्रतिपत्तिः। उपलक्ष्यं ह्यनवधिकातिशयबृहत्। बृंहणाच्च बृहतेर्धातो स्तदर्थत्वात्। तदुपलक्षणभूताश्च जगज्ज-

न्मस्थितिलयाः । यतो, येन, यदिति प्रसिद्धवनिर्देशेन यथा प्रसिद्धि जन्मादिकारणमनुद्यते । प्रसिद्धिश्च "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम्" 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति' 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येकस्यैव सच्छब्दवाच्यस्य निमित्तोपादान रूपकारणत्वेन तदपि 'सदेवेदमग्र एक मेवा सोदित्युपादानतां प्रतिपाद्य 'अद्वितीय' मित्यधिष्ठात्रन्तरं प्रतिषिध्य 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' इत्येकस्यैव प्रतिपादनात् । तस्मात् सन्मूला जगज्जन्मस्थितिलयाः तद् ब्रह्मेति । जन्म स्थितिलयाः स्वनिमित्तोपादानभूतं वस्तु ब्रह्मेति लक्षयन्ति । जगन्निमित्तोपादानताक्षिप्त सर्वज्ञत्वं सत्य संकल्पत्वं विचित्रशक्तित्वाद्याकारबृहत्त्वेन प्रतिपन्नं ब्रह्मेति च जन्मादीनां तथा प्रतिपन्नस्य लक्षणत्वेन नाकारान्तराप्रतिपत्तिरूपानुपपत्तिः ।

अनुवाद–उपर्युक्त पूर्व पक्ष स्थित होने पर सिद्धान्ती कहते है कि – जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय रूपी उपलक्षणो के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान कराया जा सकता है । यह नहीं कहा जा सकता है कि चूंकि ब्रह्म का इन उपलक्षणों

के द्वारा उपलक्षित होने वाले आकार के अतिरिक्त आकार का पूर्व ज्ञात नहीं होने के कारण इनके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म के भी तीन आकार हैं। जगज्जन्मादि के उपलक्ष्य भूत ब्रह्म श्रुतियों एवं स्मृतियों में सीमातीत बृहत् रूप से प्रसिद्ध है (अब प्रश्न यह उठता है कि ब्रह्म शब्द द्वारा उसके बृहत्व एवं बृंहणत्व का ज्ञान कैसे होता है ? तो इसका उत्तर देते हुए श्री भाष्यकार कहते हैं कि चूंकि ब्रह्म का बृहत्व स्वरूपतः एवं गुणतः दोनों प्रकार से विवक्षित है। अत एव बृंहणत्व रूप बृहत्व भी बृह् धातु के अन्तर्गत ही है। उस ब्रह्म के उपलक्षण — जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय हैं। (अब रही तृतीय आकार की बात तो उसका उत्तर है कि —) इस वाक्य में यतः, येन और यत् इन तीनों पदों के द्वारा ब्रह्म का प्रसिद्ध के समान निर्देश करके प्रसिद्धि के अनुसार ही उसके जगत् जन्मादि कारणत्व का यह श्रुति अनुवाद करती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ब्रह्म की प्रसिद्धि कैसे ज्ञात होती है ? तो इसका उत्तर है कि — छान्दोग्योपनिषत के छठे अध्याय की निम्न श्रुतियां सत् शब्द वाच्य एक ही परंब्रह्म को जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण बतलाती हैं। वे हैं ' सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ' अर्थात हे सोम रस पान हेतु सच्छिष्य श्वेतकेतो ! सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् सत् शब्द वाच्य परंब्रह्म परमात्मा ही था, वह अकेला एवं अद्वितीय था। ' तदैक्षत बहुस्याँ प्रजायेयेति ' अर्थात् उस सत् शब्द वाच्य परं ब्रह्म ने सत्य संकल्प रूप ईक्षण किया कि मैं

एक हूँ अनेक हो जाऊँ । (अर्थात् में समष्टि सृष्टि से व्याष्टि सृष्टि में आउँ । (अतएव उसने सर्व प्रथम तेज की सृष्टि की (तत्तेजोऽसृजत) उसी ब्रह्म को सदेव इत्यादि श्रुतियों में सृष्टि से पूर्व जगत् की सद्रूप बतलाकर इस जगत् की सृष्टि का उपादान कारण बतलाया गया है । और अद्वितोयम् पद के द्वारा उससे भिन्न की अधिष्ठानता का निषेध करके तदैक्षत इत्यादि श्रुति केवल ब्रह्म को ही जगत का अभिन्न निमित्तोपदान कारण बतलाती है, अत एव उपर्युक्त सूत्र का अर्थ है कि जगत् सृष्टि स्थिति एवं लय का जो मूल है वही ब्रह्म है । इस तरह श्रुत्युक्त जगत् के जन्म, स्थिति एवं लय अपने उपादान एवँ निमित्त वस्तु ब्रह्म को लक्षित करते हैं । जगत् के निमित्त एवँ उपादान कारणता से आक्षिप्त होने वाले ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, सत्यसंकल्पत्व , विचित्र शक्तित्व, आदि आकार के बृहत्त्व के द्वारा ब्रह्म ज्ञात है, अत एव इस तरह से ज्ञात ब्रह्म के जन्मादि उपलक्षण हैं । फलतः यहाँ पर उनके उपलक्षण होने में ब्रह्म के आकारान्तर की अज्ञातता रूप अनुपपत्ति नहीं है । अतएव जगज्जन्मादि को ब्रह्म का उपलक्षण माना जा सकता है ।

।। जगत् जन्मादि का ब्रह्म का विशेषणत्व समर्थन ।।

जगज्जन्मादीनां विशेषणतया लक्षणत्वेऽपि न कश्चिद् दोषः । लक्षणभूतांन्यपि विशेषणानि

षणानां व्यावर्तकत्वात् । ततः 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' सकलेतर वस्तु विसजातीयम् इति लक्ष्यत इति नान्योन्याश्रयणम् । अतः सकलगज्जन्मादि कारणं निरवद्यं सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं सर्वशक्ति ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यत इति सिद्धम् ।

अनु०-यदि जगत के जन्मादि को ब्रह्म का विशेषणरूप से भी लक्षण माना जाय तो भी कोई दोष नहीं होगा। क्योंकि लक्षण स्वरूप भी विशेषण नियत भिन्न आश्रय और विशेषणाश्रय से अलग वस्तु को लक्षित करते हैं। यदि लक्ष्य भूत वस्तु का स्वरूप अज्ञात है, तो भी एक ही वस्तु को लक्षित करना अभिप्रेत होने पर भी परस्पर विरोध रहित विशेषणों की अनेकता रूप लक्षण वस्तु में भेद का आपादन नहीं करता है, क्योंकि उन सभी विशेषणों का आश्रय एक ही प्रतीत होता है। अतएव उन सभी विशेषणों का उपसंहार एक ही आश्रय में होता है।

(यदि कहें कि तो खण्ड मुण्ड आदि विशेषणों के द्वारा व्यक्ति का भेद क्यों प्रतीत होता है ? तो इसका उत्तर है कि) खण्डत्व आदि विशेषण तो परस्पर में विरोधी होने के कारण ही व्यक्ति के भेद को आपादित करते हैं। यदि कहें कि यहाँ भी जन्म आदि का परस्पर में विरोध है तो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि काल के भेद के कारण जगज्जन्मादि में कोई विरोध नहीं है। (अर्थात् भिन्न, भिन्न काल में ब्रह्म जगज्जन्म आदि का

कारण बनता है समकाल में नहीं 'यतो वा इमानि' इत्यादि कारण वाक्य के द्वारा ज्ञात जगत् के जन्म आदि के कारणभूत ब्रह्म के स्वरूप का अभिधान 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति स्वेतर समस्त वस्तुओं से भिन्नरूप से करती है

इस श्रुति का सत्यपद उपाधि रहित सत्ता सम्पन्न ब्रह्म का बतलाता है। उसके द्वारा सदा विकृत होने वाली जड़ प्रकृति संसृष्ट चेतन को ब्रह्म से अलग किया गया है। क्योंकि अचेतन प्रकृति तथा प्रकृति संसृष्ट चेतन दोनों की अवस्थाओं के बदलते रहने के कारण उनके नाम भीं बदलते रहते हैं, अतएव उनकी सत्ता निरुपाधिक न होकर सोपाधिक है।

ज्ञान पद नित्य एवं असंकुचित ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को बतलाता है। इसके द्वारा मुक्तहोने से पूर्व संकुचित ज्ञानवाले होने के कारण मुक्तों की व्यावृति हो गयी। अनन्त पद देश परिच्छेद काल परिच्छेद एवं वस्तु परिच्छेद से रहित ब्रह्म के स्वरूप को बतलाता है। ब्रह्म के स्वरूप के सगुण होने के कारण अनन्त पद के द्वारा उसकी स्वरूपत: एवं गुणतः अनंतता बतलायी गयी है। अतएव उस अनन्त पद के द्वारा पहले के सत्य एवं ज्ञान पद से व्यावृत्त दोनों कोटियों से भिन्न अतिशय युक्त स्वरूप एवं गुण सम्पन्न नित्य जीवों की व्यवृत्ति हो गयी। (नित्य जीवों के स्वरूप एवं गुण को यहाँ सातिशय इसलिए बतलाया गया है कि वे अणुस्वरूप हैं, ज्ञान को छोड़कर ऐश्वर्य आदि गुण भी जगद्व्यापारानर्ह होने के कारण सतिशय हैं, उनके ज्ञान भी

परमात्मा की इच्छा के अधीन होने के कारण सातिशय है।) इन सबों की व्यावृत्ति इनतीनों पदों से इसलिए हो गयी कि विशेषण व्यावर्तक होते हैं। इसतरह 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' इस वाक्य के द्वारा जगत् के जन्म आदि के द्वारा ज्ञात स्वरूप वाला ब्रह्म स्वेतरसमस्त वस्तु विलक्षणत्व से लक्षित होता है अतएव पूर्वोक्त [illegible] दोष की भी संभावना नहीं की जा [illegible] है। इसतरह सम्पूर्ण जगत् के जन्म आदि का कारण भूत [illegible] सर्वज्ञ [illegible], सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म लक्षण के द्वारा जाना जा सकता है यह सिद्ध हुआ।

॥ इस सूत्र की निर्विशेष वादी के मत में [illegible] ॥

मू०-ये तु निर्विशेषवस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति तन्मते 'ब्रह्म जिज्ञासा' 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यसंगतं स्यात्, निरतिशय बृहत् बृंहणं च ब्रह्मेति निर्वचनात्। तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमिति वचनाच्च। एवमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृतश्रुतिगणेषु च ईक्षणाद्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतश्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम् जगज्ज-न्मादि भ्रमो यतः तद् ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षापक्षेऽपि न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः, भ्रम मूलमज्ञानम् अज्ञानसाक्षि ब्रह्मेत्यभ्युपगमात्, साक्षित्वं हि प्रकाशैकरसतयैवो-च्यते। प्रकाशत्वं तु जडाद्व्यावर्त्तकं स्वस्य च

परस्य व्यवहारयोग्यतापादन स्वभावेन भवति, तथा सति सविशेषत्वम् तदभावे प्रकाशतैव न स्यात् तुच्छतैव स्यात् ।

॥ इति जन्माद्यधिकरणम् ॥

अनु०-जो अद्वैती विद्वान् निर्विशेष वस्तु (ब्रह्म) को जिज्ञासा का विषय मानते हैं उनके मत में 'ब्रह्म जिज्ञासा और 'जन्माद्यस्य यतः' ये दोनों सूत्र असङ्गत हो जायेंगे, क्योंकि (अथर्वशिरः एवं श्री विष्णु पुराण में) ब्रह्म का निवचन सीमातीत बृहत् एवं बृंहणत्वगुण सम्पन्न बतलाया गया है। और वही ब्रह्म जगत् के जन्म आदि का कारण है । यह श्रुति कहती है । इसी तरह आगे आने वाले सूत्र समुदाय एवं सूत्रों में उदाहृत श्रुति समुदायों में भी ईक्षण आदि का संबन्ध होने के कारण सूत्र और सूत्रों में उदाहृत श्रुतियाँ निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण नहीं बन सकती हैं। तर्क (अनुमान)भी निर्विशेष वस्तु में प्रमाण इसलिए नहीं बन सकता है कि वह भी साध्य धर्म में नियमतः पाये जाने वाले साधन धर्म से सम्बद्ध वस्तु को ही अपना विषय बनाता है । यदि वे अपनी कल्पना से इस सूत्र का अर्थ करें कि जगत् के जन्म आदि का भ्रम जिसके कारण होता है वही ब्रह्म है । तो ऐसा मानने पर भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि भ्रम का कारण अज्ञान है और ब्रह्म उस अज्ञान का साक्षी (उनके मत में

माना जाता) है। ब्रह्म को वे साक्षी इसलिए मानते हैं कि वह ज्ञानमात्र स्वरूप है। जड़ वस्तु से भेदक तथा स्व एवं परके व्यवहार की योग्यता के आपादक स्वभाव को ही प्रकाशत्व कहते हैं। और ऐसा होने पर ब्रह्म सविशेष ही हो जायेगा। यदि वह स्वभाव न माना जाय तो फिर उसमें प्रकाशत्व आ ही नहीं सकता बल्कि वह तुच्छ ही हो जायेगा।

अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरण

जन्मादिकारणं ब्रह्म वेदान्तवेद्यमित्युक्तम्, तदयुक्तम्, तद्धि न वाक्यप्रतिपाद्यम्, अनुमानेन सिद्धेरित्याशङ्क्याह —

॥ शास्त्रयोनित्वात् ॥ १ । १ । ३ ॥

शास्त्रं यस्य योनिः = कारणम् प्रमाणम् तच्छास्त्रयोनि, तस्य भावः शास्त्रयोनित्वम् तस्मात् ब्रह्मज्ञानकारणत्वात् शास्त्रस्य, तद्योनित्वं ब्रह्मणः। अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयतया ब्रह्मणः शास्त्रैकप्रमाणकत्वाद् उक्तस्वरूपं ब्रह्म 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्यं बोधयन्त्येवेत्यर्थः ॥

अनुवाद – द्वितीय सूत्र में यह जो बतलाया गया है कि जगत् के जन्म आदि का कारण भूत ब्रह्म ही वेदान्त वाक्यों द्वारा जानने योग्य है, किन्तु यह कहना उचित नहीं है। वेदान्त

वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया जाता है ' क्योंकि ब्रह्म की सिद्धि तो अनुमान के द्वारा ही हो जाती है । (और शास्त्र किसी अज्ञात अर्थ का ही प्रतिपादन करके सफल होता है, वह साधकान्तर सिद्ध और बाधकान्तर बाधित वस्तु का प्रतिपादन नही करता है) इसी शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हे –

शास्त्रयोनित्वात्

अर्थात् चूंकि शास्त्र ही ब्रह्म में प्रमाण है; अतएव वह वेदान्त वेद्य है ।

सूत्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझना चाहिए । शास्त्र ही जिसका योनि यानी करण अर्थात् प्रमाण है , उसे शास्त्र योनि कहते है , उसके भाव को शास्त्र योनित्व कहते हैं । शास्त्रयोनि शब्द से हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति होकर शास्त्रयोनित्वात् बना है। इस तरह शास्त्र के ब्रह्म ज्ञान का कारण होने से ब्रह्म का शास्त्र मे योनित्व है । ब्रह्म के अत्यन्त अतीन्द्रिय होने के कारण वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं बनता है । चूंकि ब्रह्म मे केवल शास्त्र ही प्रमाण है इसलिए उपर्युक्त स्वरूप वाले ब्रह्म को 'निश्चय ही जिससे ये सभी भूत उतपन्न होते हैं ' इत्यादि वाक्य प्रतिपादित करते ही हैं ।

टिप्पणी– अत्यान्तातीन्द्रियत्वेन– इत्यादि वाक्य का अभि-

प्राय है कि सक्षात् ब्रह्म का न तो इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है, न तो उसके किसी चिह्न का ही इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है और न तो इसके किसी लिङ्ग का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है। अतएव वह अत्यन्त अतीन्द्रिय है। स्वयं इन्द्रियों का अविषय होने के कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नही होता है। उसके लिङ्ग अथवा उसके लिङ्ग के लिङ्गको भी इन्द्रियों का अविषय होने के कारण उस ब्रह्म की अनुमान के द्वारा भी सिद्धि नहीं सकती है। इस तरह प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं होने के कारण ब्रह्म शास्त्रैक प्रतिपाद्य रूप से सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष

मूल ० ननु शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो न सम्भवति, प्रमाणान्तरवेद्यत्वाद् ब्रह्मणः। अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत्। किं तर्हि तत्र प्रमाणम्? न तावत् प्रत्यक्षम्। तद्धि द्विविधम् इन्द्रिय सम्भवं योगसम्भवं वेति। इन्द्रियसम्भवञ्च बाह्य सम्भवमान्तरसम्भवञ्चेति द्विविधम्। वाह्येन्द्रियाणि विद्यमानसन्निकर्षयोग्यस्वविषय वोधजननानीति न सर्वार्थ साक्षात्कारतन्निर्माण

समर्थपुरुष विशेष विषयबोधजनानि । नाप्यान्तरम् आन्तर सुख दुःखादिव्यतिरिक्त बहिर्विषयेषु तस्य बाह्येन्द्रियानपेक्षप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि योगजन्यम् भावनाप्रकर्ष पर्यन्त जन्मनस्तस्य विशदावभासत्वेऽपि पूर्वानुभूतविषय स्मृतिमात्रत्वात् न प्रामाण्यमिति कुतः प्रत्यक्षता ? तदतिरिक्तविषयत्वे कारणाभावात् । तथा सति तस्य भ्रमरूपता । नाप्यनुमानं विशेषतोदृष्टं सामान्यतोदृष्टं वा ; अतीन्द्रिये वस्तुनि सम्बन्धावधारण विरहान्न विशेषतो दृष्टम् । समस्तवस्तुसाक्षात्कारतन्निर्माण समर्थ पुरुष विशेषनियतं सामान्यतो दृष्टमपि न लिङ्गमुपलभ्यते । ननु च जगतः कार्यत्वं तदुपादानोपकरणसम्प्रदान प्रयोजनाभिज्ञकर्तृकत्वव्याप्तम् । अचेतनारब्धत्वं जगतश्चैक चेतनाधीनत्वेन व्याप्तम् । स हि घटादि कार्यं तदुपादानोपकरण सम्प्रदान प्रयोजनभिज्ञ कर्तृक दृष्टम् । अचेतनारब्धमरोगं स्वशरीरमेक चेतनाधीनञ्च । न च सावयवत्वे जगतः कार्यत्वम् ॥

अनु० – (उपर्युक्त सूत्रार्थ की योजना न सहने के कारण पूर्वपक्षी का कहना है कि) ब्रह्म मे शास्त्र ही प्रमाण नहीं बन

सकता है क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान दूसरे प्रमाणों से भी हो जाता है, और शास्त्र प्रमाण नाग से अज्ञात अर्थ का ही बोध करा-कर सफल होता है। (इस पर सिद्धान्त्येकदेशी मीमांसक पूछता है कि ब्रह्म में कौन प्रमाण है ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता है, क्योंकि वह दो प्रकार का होता है - इन्द्रियजन्य और योगजन्य इन्द्रियजन्य पत्यक्ष भी दो प्रकार का होता है-१ - आभ्यन्तरेन्द्रिय जन्य और बाह्येन्द्रिय जन्य। बाह्य इन्द्रियाँ तो वर्तमान और सन्निकर्ष के योग्य ही अपने विषयों का ज्ञान उत्पन्न करती हैं, अत एव वे सभी विषयों का साक्षात्कार और उनका निर्माण करने में समर्थ पुरुष विशेष (ब्रह्म) संम्बन्धी ज्ञान के जनक नही हो सकती हैं। आभ्यन्तरेन्द्रिय (मन) के द्वारा भी ब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता है क्योंकि बाह्य इन्द्रियों की सहायता के विना आन्तरिक सुख दुख आदि विषयों को छोड़कर बाह्य विषयों में उसको (मन की) प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। योगज प्रत्यक्ष के द्वारा भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति तो भावना के उत्कर्ष की की अन्तिम कोटि में होती है, अत एव उसके स्पष्ट प्रतीति रूप होने पर भी पूर्वानुभूत विषय की स्मृति मात्र होने के कारण उसकी प्रामाणिकता ही नही स्वीकार की जा सकती है। अतः ब्रह्म का प्रत्यक्ष कैसे संभव है ? पूर्वानुभूत विषयों को छोड़कर उसके अतिरिक्त योगज प्रत्यक्ष का विषय मानने में कई कारण ही नहीं है। यदि मान भी लिया जाय तो वह भ्रम ही हो सकता है।

ब्रह्म में अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके दो भेद होते हैं - विशेषतो दृष्ट तथा सामान्यतो दृष्ट। विशेषतो दृष्ट अनुमान तो इसलिए प्रमाण नहीं हो सकता है कि अतीन्द्रिय वस्तु ब्रह्म में सम्बन्ध का निश्चय ही नहीं होसकता है। सभी वस्तुओं के साक्षात्कार तथा उनके निर्माण में समर्थ पुरुष विशेष परमात्मा में नियत कोई सामान्यतो दृष्ट लिङ्ग भी नहीं उपलब्ध होता है।

यदि यहां पर कोई यह शंका करे कि जगत् चूंकि कार्य है अत एव अनुमान होता है कि उसका भी कोई ऐसा कर्त्ता अवश्य मानना होगा जो उसके उपादान कारण, सहकारी कारण सम्प्रदान और प्रयोजन को जानता हो। जो जगत् का ऐसा कर्ता है वही ईश्वर है। और जगत् चूंकि जड पदार्थों से निर्मित है अत एव वह किसी एक ही चेतन के अधीन होगा। जो वह नियामक है वही जगत् कर्त्ता ईश्वर है। लोक में देखा भी जाता है कि जितने घट आदि कार्य हैं, उनका कर्त्ता उपादान कारण (मिट्टी आदि) उपकरण (चक्र चीवर दण्ड आदि) प्रयोजन (उपभोक्ता जल आदि लाने के इच्छुक आदि) और प्रयोजन (विनियोग) को जानते हैं। ऐसे ही जड़ पदार्थों से निर्मित अपना स्वस्थ शरीर एक चेतन [आत्मा] के अधीन होता है। हम जगत् को कार्य सावयव होने के कारण नहीं मानते हैं, अपितु अचेतनरब्ध होने के कारण मानते हैं।

टिप्पणी– नैयामिक विद्वान ईश्वर की सिद्धि अनुमान के द्वारा मानते हैं। उनका कहना है कि जिस ईश्वर का अनुमान होता है वेद उसका अनुवाद करते है। मीमांसक आस्तिको की पंक्ति में आते हैं क्योंकि वे वेदकी प्रमाणिकता स्वीकार करते है किन्तु वे ईश्वर की सत्ता नहीं स्वीकार करते हैं।

मीमांसक विद्वान, नैयायिकों से कहते हैं कि नैयायिक विद्वान जिसतरह सर्वज्ञ कर्तुमकर्तुमन्यथा समर्थ ईश्वर का अनुमान करते हैं उसतरह के ईश्वर की सिद्धि हो ही नही सकती है। क्योंकि ईश्वर में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष इसलिए प्रमाण नही हो सकता है कि ईश्वर अतीन्द्रिय है। योगज प्रत्यक्ष का भी वह विषय नही बन सकता है, क्योंकि योगज प्रत्यक्ष में भी मन्त्र एव औषध के सेवन से इतना ही होता है कि योगी की इन्द्रियाँ सूक्ष्म विप्रकृष्ट एवं व्यवहित पदार्थों को भी अपना विषय बना लेती हैं किन्तु ऐसा नहीं होता कि योगी अपनी आँख से ही रसास्वादन भी भी करने लगे। यदि उसको ऐसी अनुभूत होती है, तो यही समझना चाहिये कि योगी को वह प्रमा नहीं भ्रम हो रहा है।

अब रही अनुमान की बात तो अनुमान मे भी व्याप्तिग्रह अपेक्षित है। और वह साक्षात्कर के विना नहीं होता है। न नु च जगतः कार्यत्वम् इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा नैयायिक विद्वान जगत् को ईश्वरकृत सिद्धकरने के लिए तीन अनुमान करते हैं। ये इस प्रकार हैं– १–जगत् के उपादान, उपकरण, सम्प्रदान, एवं प्रयोजन का ज्ञाता कोइ न कोई कर्त्ता अवश्य होगा, क्योंकि

जगत् कार्य है। जो जो कार्य होता है, कोई न कोई उसके उपादान आदि का ज्ञाता कर्ता अवश्य होता है, जैसे घट का कर्ता कुलाल। जो इस जगत् के उपादानादि का ज्ञाता कर्ता है वही ईश्वर कहलाता है।

२—जगत् कार्य है। क्योंकि वह जड़ पदार्थों से निर्मित है, जड़ पदार्थों से निर्मित शरीर के समान।

३—जगत् किसी एक चेतन के ही अधीन रहता है क्योंकि जगत् अचेतनारब्ध (जड़ पदार्थ निर्मित) है। जो जो अचेतनारब्ध होता है वह किसी एक ही चेतन के अधीन (नियमित) होता है। जैसे जड़पदार्थ निर्मित अपना स्वस्थ शरीर। यह जगत् जिसके अधीन है वही ईश्वर है।

नैयायिकों के एकचेतनाधीनत्व का खण्डन

मू०—उच्यते—किमिदमेक चेतनाधीनत्वम् ? न तावत् तदायत्तोत्पत्ति स्थितित्वम्। दृष्टान्तो हि साध्यविकलः स्यात्, नह्यरोगं स्वशरीरमेक चेतनायत्तोत्पत्तिस्थिति, तच्छरीरस्य भोक्तृणां भार्यादिसर्वचेतनानामदृष्टजन्यत्वात् तदुत्पत्तिस्थित्योः। किञ्च—शरीरावयविनः स्वावयवसमवेततारूपा स्थितिरवयवसंश्लेष विशेष व्यतिरेकेण न चेतन मपेक्षते। प्राणनलक्षणा तु स्थितिः पक्षत्वाभिमते क्षितिजलधिमहीधरादौ न सम्भ

वर्तीति पक्षसपक्षानुगतामेकरूपां स्थितिं नोपलभामहे तदायत्त प्रवृत्तित्व तदधीनत्वमिति चेत्, अनेक चेतन साध्येषु गुरुतररथशिलामहीरुहादिषु व्यभिचारः। चेतनमात्राधीनत्वे सिद्धसाधनता।

नैयायिको द्वारा उपर्युक्त प्रकार का ईश्वर सिद्धयनुकूल अनुमान उपस्थित कियेजाने पर मीमासक विद्वान यह पूछते है कि यह एक चेतनाधीनत्व का अभिप्राय क्या है ? यह तो कहा नही जा सकता है कि उसी चेतन के अधीन उसकी उत्पत्ति और स्थिति रहती है। यानी जब वह चेतन चाहे तो उसकी उत्पत्ति हो और जितने समय तक चाहे उतने समय तक उसकी स्थिति बनी रहे। क्योकि यदि ऐसा माना जायगा तो फिर आपने जो शरीर को दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया है। वह दृष्टान्त ही साध्य रहित हो जायगा। क्योकि अपने निरोग शरीर की उत्पत्ति एक चेतन के अधीन ही नही होती है। अपितु अपने अपने (प्रारब्धानुसार) उस शरीर के भोक्ता स्त्री आदि (पुत्र, मित्र, पिता, माता, शत्रु आदि) जितने सबन्धी है, उन सभी जीवो के अदृष्ट के अनुसार उस शरोर की उत्पत्ति और स्थिति होती है।

किञ्च शरीर में रहने वाली आत्मा के अपने अङ्गो की समुदायता रूप जो स्थिति है, वह अवयवों के संश्लेष विशेष से भिन्न चेतन की अपेक्षा नही रखती है। यदि आप स्थिति से अर्थ शरीर का पञ्चवृत्तिप्राण सहितत्व ले तो उक्त अनुमान

में पक्ष रूप से अभिमत मही, महीधर महार्णव आदि में ही पञ्चवृत्तिप्राण सहितत्व नहीं है। अतएव पक्ष और सपक्ष (शरीर) में समान रूप से रहने वाली कोई स्थिति यहाँ उपलब्ध नहीं होती है।

यदि कहें कि एक चेतनाधीनत्व का अर्थ एक चेतन के अधीन प्रवृत्ति है, तो इसका व्यभिचार अनेक जीवों के द्वारा गतिशील बनाये जाने योग्य अधिक भारी रथ, शिला, वृक्ष आदि में देखा जाता है। यदि कहें कि एक चेतनाधीनत्व न कहकर हम चेतनाधीनत्व रूपा प्रवृत्ति, स्थिति, उत्पत्ति आदि मानते है, तो फिर सिद्ध साधनता दोष होगा। (क्योंकि जगत् की उत्पत्ति स्थिति, और प्रवृत्ति तो चेतनों के अधीन हम भी मानते हैं।)

टिप्पणी–तच्छरीरस्य भोक्तृणाम्–का अभिप्राय है कि मीमांसको के मतानुसार हमें जो शरीर प्राप्त होता है, उसकी उपत्ति और स्थिति हमारे जीवन के अनुकूल प्रतिकूल रूप से रहने वाले जितने संबन्धी हैं उनके अदृष्ट के अनुसार ही होती है।

॥ जीव के जगत् कारणत्व का समर्थन ॥

मू०–किञ्च उभयवादि सिद्धानां जीवानामेव लाघवेन कर्तृत्वाभ्युपगमो युक्तः। न च जीवानामुपादानाद्यनभिज्ञतया कर्तृत्वासंभवः, सर्वेषामेव चेतनानां पृथि–

व्याद्युपादान यागाद्युपकरण साक्षात्कार सामर्थ्यात् । यथेदानीं पृथिव्यादयो यागादयश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते । उपकरणभूतयागादिशक्ति रूपापूर्वादिशब्द वाच्यादृष्ट साक्षात्काराभावेऽपि चेतनानां न कर्तृत्वानुपपत्तिः, तत्साक्षात्कारानपेक्षणात् कार्यारम्भस्य । शक्तिमत्साक्षात्कार एव हि कार्यारम्भोपयोगी । शक्तेस्तु ज्ञानमात्रमेवोपयुज्यते; न साक्षात्कारः । न हि कुलालादयः कार्योपकरणभूतदण्डचक्रादिवत् तच्छक्तिमपि साक्षात्कृत्य घट मणिकादि कार्यमारभन्ते । इह तु चेतनानामागमावगतयागादि शक्ति विशेषाणां कार्यारम्भो नानुपपन्नः ।

अनु० दूसरी बात यह है कि जिसे हम (मीमांसक) और आप (नैयायिक) दोनो मानते हैं, उन जीवों का ही जगत् कर्तृत्व स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि जीवों को जगत् का कर्ता मानने में लाघव है । यदि यह कहा जाय कि चूँकि जीव जगत् के उपादान आदि के ज्ञाता नहीं हो सकते हैं अत एव वे जगत् के कर्ता नहीं हो सकते हैं । तो यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, सभी जीवों में यह सामर्थ्य है कि वे पृथिवी आदि उपादान कारण और याग आदि उपकरणों का साक्षात्कार कर सकें । जिस तरह वर्तमान काल में जीव पृथिवी

आदि उपादानों तथा यागादि उपकरणों का साक्षात्कार करते हैं उसी तरह सृष्टि के आदि में भी। जगत् रूपी कार्य के उपकरण भूत याग आदि की शक्ति रूप जो अपूर्व आदि शब्दों से कहा जाता है उस अदृष्ट का साक्षात्कार नहीं करने पर भी जीवों के जगत् का कर्ता होने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि कार्य के आरम्भ करने के लिए 'उपकरणों की शक्ति आदि का साक्षात्कार आवश्यक नहीं होता है। कार्य के आरम्भ होने के लिए शक्तिमान् का साक्षात्कार ही उपयोगी है। शक्ति का तो ज्ञानमात्र ही अपेक्षित है, उसका साक्षात्कार नहीं। घट आदि के कर्ता जो कुलाल आदि है वे घटादि कार्यों के उपकरण भूत दण्ड चक्र आदि के समान उनकी शक्ति का भी साक्षात्कार करके घट मणिक आदि का निर्माण नहीं करते हैं। और जीव तो आगम (शास्त्रों) के द्वारा याग आदि की शक्ति विशेष को जानते ही हैं अतएव उनके द्वारा जगत् निर्माण रूपी कार्य का आरम्भ मानना अनुचित नहीं है।

जगत् के कार्यत्व हेतु का खण्डन ॥

मू०—किञ्च यच्छक्यक्रियं शक्योपादानादि विज्ञानञ्च, तदेव तदभिज्ञकर्तृकं दृष्टम्। मही महीधरमहार्णवादि त्वशक्यक्रियम् अशक्योपादानादिविज्ञानं चेति; न चेतनकर्तृकम्, अतो घटमणिकादिसजातीय शक्य-क्रिय शक्योपादानादिविज्ञानवस्तुगतमेव कार्यत्वं

बुद्धिमत् कर्तृपूर्वकत्वसाधने प्रभवति । किञ्च घटादि कार्यजनीश्वरेणाल्पज्ञानशक्तिना सशरीरेण परिग्रहवता-ऽनीशेनाल्पकालेन निर्मितं दृष्टमिति तथाविधमेव चेतनं कर्तारं साधयन्नयं कार्यत्वहेतुः सिषाधयिषित पुरुष-सार्वज्ञ्यादिविपरीतसाधनाद्विरुद्धः स्यात् । न चैतावता सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः । लिङ्गिनि प्रमाणान्तरगोचरे लिङ्गबलोपस्थापिता विपरीत विशेषाः तत्प्रमाणप्रतिहतगतयो निवर्तन्ते । इह तु सकलेतरप्रमाणाविषये लिङ्गिनि निखिल निर्माण चतुरे अन्वय व्यतिरेकावगताविनाभावनियमा धर्माः सर्व एवाविशेषेण प्रसज्यन्ते । निवर्तक प्रमाणाभावात् तथैवावतिष्ठन्ते, अत आगमादृते कथमीश्वरः सेत्स्यति ?

अनु०-किञ्च उसी वस्तु को उसका जानकार कर्ता देखा जाता है जो क्रिया के द्वारा किया जा सके तथा उसके उपादान आदि को जाना जा सके । किन्तु पृथिवी, पर्वत एवं समुद्र आदि न तो क्रिया साध्य हैं और न तो इनके उपादान आदि को ही जाना जा सकता है, अतएव इनको चेतनकृत नही माना जा सकता है । अतएव घट, मणिक आदि के ही समान

वस्तु को, जो क्रिया साध्य हों एवं जिनके उपादान आदि को जाना जा सके, कार्य माना जा सकता है तथा उनके कर्ता को उनके उपादानादि के ज्ञाता माना जा सकता है। अत एव पृथिवी आदि का कर्ता कोई चेतन नहीं हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि देखा जाता है कि-घट आदि कार्य अनीश्वर, अल्पज्ञ अल्पशक्ति, शरीरवान् उपकरणवान् तथा अपूर्णकाम कुलाल आदि के द्वारा निर्मित होते हैं। यह कार्यत्व हेतु भी जगत् के कर्ता को उसी प्रकार का सिद्ध करता है, अत एव यह जिसको सिद्ध करना अभिप्रेत है उस पुरुष की सर्वज्ञता सर्वैश्वर्यता आदि के विपरीत, अल्पज्ञता आदि को सिद्ध करने के कारण इसमें विरुद्धत्वनामक हेत्वाभास दोष है। इस पर यदि नैयायिक विद्वान् यह कहें कि इस तरह से तो सभी अनुमानों का ही नाश हो जायेगा। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जो कार्य दूसरे प्रमाण के भी विषय होते है, उनके विषय में कारण के द्वारा उपस्थापित विपरीत विशेष अपनी शक्ति प्रमाणान्तरों के द्वारा रोक दिये जाने के कारण निवर्तित हो जाते हैं। यहाँ तो अन्य किसी भी प्रमाण का विषय न बनने के कारण लिङ्गी, सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करने में समर्थ ईश्वर में अन्वय व्यतिरेक के द्वारा जाने गये अवश्यंभावी नियम जन्य सभी धर्म विशेषतः आयेंगे ही और उनके हटाने वाले प्रमाण के अभाव में ज्यों के त्यों बने भी रहेंगे। अतएव सिद्ध साधनत्व, सोपाधिकत्व एवं विरु-

द्धत्व आदि दोषों से दूषित होने के कारण आगम के अभाव में केवल अनुमान के द्वारा जगत् का कर्ता ईश्वर कैसे सिद्ध हो सकता है।

टिप्पणी—इस अनुच्छेद में मीमांसकों को निम्न प्रकार के अनुमान अभिप्रेत हैं—

(१) मही महीधर महार्णव आदि कार्य नहीं, हैं क्योंकि न तो वे क्रिया साध्य हैं, और न तो उनके उपकरणादि को ही जाना जा सकता है। कार्य वही होता है जिनके उपकरण आदि को जाना जा सके तथा जो शक्यक्रिय हों। जैसे घट, मणिक (कुण्डा) आदि।

(२) किञ्च- जो कार्य होता है उसका कर्ता अल्पज्ञ, अल्प शक्ति, शरीरी, उपकरणादि का उपादान करने वालातथा अपूर्ण काम होता है, जैसे घट आदि का कर्ता कुलाल। यदि मही महीधर आदि का कर्ता ईश्वर होगा तो वह भी घटादि के कर्ता कुलालादि के ही समान अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, शरीरी तथा अपूर्ण काम होगा। किन्तु नैयायिक विद्वान् तो ईश्वर को सर्वज्ञ सर्वशक्ति, अवाप्त समस्तकाम आदि रूप से मानते हैं। अतएव यह कार्यत्व हेतु नैयायिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध अर्थ को सिद्ध करने के कारण विरुद्धत्व नामक हेत्वाभास से दूषित है।

मू०-अत्राहुः- सावयवत्वादेव जगतः कार्यत्वं न प्रत्याख्यातुं शक्यते। भवन्ति च प्रयोगाः-'विवादाध्यासितं भूभू-धरादि कार्यम्, सावयवत्वात्, घटादिवत्। तथा

विवादाध्यासितसर्वानिजलधिमहीधरादि कार्यम्, महत्त्वे सति क्रियावत्त्वात् घटादिवदिति। तनुभुवनादि कार्यम्। महत्त्वे सति मूर्तत्वात् घटवत् इति। सावयवेषु द्रव्येष्विद-मेव क्रियते नेतरद्विति कार्यत्वस्य नियामकं सावयव-त्वातिरेकि रूपान्तरं नोपलभामहे। कार्यत्वं प्रति नियतं शक्यक्रियत्वं शक्योपादानादि विज्ञानत्वम् चोप लभ्यते इति चेत् न, कार्यत्वेनानुमितेऽपि विषये ज्ञानशक्ति कार्यानुमेये इति "अन्यत्राऽपिसावयवत्वादिना कार्यत्वं ज्ञातमिति ते च प्रतिपन्ने एवेति न कश्चि-द्विशेषः। तथा हि घटमणिकादिषु कृतेषु कार्यदर्शना-नुमित कर्तृगततन्निर्माणशक्तिज्ञानः पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्रसन्निवेशं नरेन्द्रभवनमवलोक्यावयवसन्निवेश विशेषेण तस्य कार्यत्वं निश्चित्य तदानीमेव कर्तुः तज्ज्ञानशक्तिवैचित्र्य मनुमिनोति; अतस्तनुभुवनादेः कार्यत्वे सिद्धे सर्वसाक्षात्कारतन्निर्माणनिपुणः कश्चित् पुरुषविशेषः सिद्ध्यत्येव।

अनु० मीमांसकों के उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुए सक्षात् पूर्वपक्षी नैयायिकों का कहना है कि – सावयव होने के ही कारण जगत् कार्य है, इस कथन का खण्डन नहीं किया जा सकता है। इसके विषय में निम्न प्रकार के अनुमान अभिप्रेत

है । १ - विवाद के विषय भूत पृथिवी , पर्वत आदि कार्य हैं, क्योकि वे अवयव से युक्त है, घट आदि के समान । २- और विवाद के विषय भूत पृथिवी, समुद्र पर्वत आदि कार्य हैं , क्योंकि वे महान होने के साथ - साथ क्रिया से युक्त हैं । घट आदि के समान । ३- शरीर ससार आदि कार्य हैं, क्योंकि वे महान् होकर भी मूर्त्त है, घट आदि के समान ।

सभी सावयव द्रव्यो मे कार्यत्वका नियामक सावयवत्व ही है, उससे भिन्न काई दूसरा आकार उसके कार्यत्व के नियामक रूप से नही उपलब्ध होता है ।

यहाँ पर मीमासक बिद्वान् यदि यह कहेकि कार्यत्व के नियामक रूप से क्रिया साध्यत्व तथा उपादानादि के ज्ञान विषय योग्यत्व की भी उपलब्धि होती है, तो यह नही कहा जा सकता है , क्योकि कार्य रूप से अनुमत वस्तु के विषय मे उस कार्य को सम्पादित करने के अनुकूल उसके कर्ता मे ज्ञान और शक्ति के सद्भाव का अनुमान कर लेना चाहिये । इस तरह से अन्यत्र भी सावयवत्व आदि के द्वारा जिसका कार्यत्व ज्ञात है, उस वस्तु के क्रिया साध्यत्व एवं उपादानादि के ज्ञान विषय के योग्यत्व को भी जान ही लेना चाहिये । इस तरह इसमें कोई विशेषता नहीं । (अर्थात् किसी सावयव वस्तु को देख कर उसका कार्यत्व ज्ञात हो जाने पर यह भी जान लेना चाहिए कि जो सावयव होता है वह क्रियासाध्य होता

है। तथा कोई ऐसा कर्ता अवश्य होगा जो उन कार्यों के भी उपादान आदि को जानता होगा।)

वह इस तरह से कि जो व्यक्ति यह जानता है कि जो घट मणिक आदि कार्य किये जाते हैं उनके कर्ता में उनके निर्माणानुकूल शक्ति अवश्य होती है, वह व्यक्ति उस राजा के भवन को देखकर, जिसे उसने कभी जीवन में नहीं देखा है जिसके सन्निवेश विचित्र हैं, उस भवन के अवयवभूत सन्निवेश विशेषों के द्वारा उसके कार्यत्व का निश्चय करके, उसी समय उसके कर्तामें उस भवन के निर्माणानुकूल उपादानादि के ज्ञान, तथा उस कर्ता की शक्ति की विचित्रता का अनुमान करता है। अत एव संसार आदि के सावयवत्व हेतु के द्वारा कार्यत्व की सिद्धि हो जाने पर, सम्पूर्ण जगत के साक्षात्कार करने तथा निर्माण आदि करने में निपुण किसी पुरुष विशेष की सिद्धि होती ही है।

म०– किञ्चसर्व चेतनानां धर्माधर्मनिमित्तेऽपि सुखदुःखो पभोगे चेतनानधिष्ठितयोरचेतनयोस्तयोः फलहेतु–त्वानुपपत्तेः सर्वकर्मानुगुण सर्व फलप्रदानचतुरः कश्चिदास्थेयः। वार्धकिनाऽनधिष्ठितस्य वास्यादे–रचेतनस्य देशकालाद्यनेकपरिकर सन्निधानेऽपि यूपादि निर्माण साधनत्वदर्शनात् वीजाङ्कुरादेः

पक्षान्तर्भावेन तैर्व्यभिचारापादनं श्रोत्रियवेतालानामनभिज्ञता विजृम्भितम्, तत एव सुखादिभिर्व्यभिचार वचनमपि तथैव। न च लाघवेनोभयवादि सम्प्रतिपन्नक्षेत्रज्ञानामेव इदृशाधिष्ठातृत्वकल्पनं युक्तम्। तेषां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट दर्शनाशक्तिनिश्चयात्। दर्शनानुगुणैव हि सर्वत्र कल्पना।

न च क्षेत्रज्ञवदीश्वरस्याशरीरित्वात् अर्थोऽस्ति, अतः प्रमाणान्तरतो न तत्सिद्ध्यनुपपत्तिः। समर्थकर्तृपूर्वकत्व नियत कार्यत्वहेतुना सिद्ध्यन् स्वाभाविक सर्वार्थसाक्षात्कार तन्नियमनशक्तिसम्पन्न एव सिद्ध्यति। यत्तु अनैश्वर्याद्यापादनेन धर्म विशेषविपरीत साधनत्वमुन्नीतम् तदनुमानवृत्तानभिज्ञत्व निबन्धनम्, सपक्षे सहदृष्टानां सर्वेषां कार्यस्याहेतुभूतानां च धर्माणां लिङ्गिन्यप्राप्तेः। एतदुक्तं भवति केनचित् किञ्चित् क्रियमाणं स्वोत्पत्तये कर्तुः स्वनिर्माण सामर्थ्यं स्वोपादानोपकरणज्ञानं चापेक्षते, न त्वन्यसामर्थ्यमन्य ज्ञानञ्च, हेतुत्वाभावात्। स्वनिर्माण सामर्थ्य स्वोपादानोपकरण ज्ञानाभ्यामेव स्वोत्पत्तावुपपन्नायां

संबन्धितया [illegible] हेतुत्व कल्पनायोगादिति ।

अनु०-किञ्च, यद्यपि सभी चेतन (जीव) अपने धर्म अधर्म रूप कर्मों के कारण ही सुख दुःख का अनुभव करते है फिर भी उनका अधिष्ठाता किसी चेतन का होना आवश्यक है। चेतन के अधिष्ठान के अभाव में जड पाप और पुण्य सुख और दुःख रूपी फल के प्रदान का कारण नहीं बन सकते हैं। अतएव मानना होगा कि कोई एक ऐसा चेतन जरूर है जो सभी जीवों को उनके किये हुए कर्मों के अनुसार सुख दुःख आदि फलों को देता है। जिस तरह बढ़ई के नहीं रहने पर केवल जड वासी (बंसूली) आदि, देश काल आदि अनेक सहकारियों के सन्निधान रहने पर भी यूप (स्तम्भ) आदि के निर्माण के साधन नहीं हो सकते, उसी तरह ईश्वर के सन्निधान के अभाव में जड़ पुण्य पाप आदि फल प्रयास करने में असमर्थ ही होंगे।

यदि श्रोत्रिय वेताल (मीमांसक) यह कहें कि देखा जाता है कि जड़ भी बीज चेतनाधिष्ठान के बिना ही अंकुर रूपी कार्य को उत्पन्न कर देता है, अत एव चेतनाधिष्ठानत्व हेतु यहाँ व्यभिचरित है, तो यह कहना मीमांसकों के अज्ञान का विजृम्भण मात्र ही है। क्योंकि बीजाङ्कुर भी पक्ष के ही अन्तर्गत आता है। इसी तरह यह कहना कि देखा जाता है कि सुख दुख, आदि जड जब सुखोत्पत्ति होती है तो वे शरीर

को पुलकित कर देते हैं, दुख शरीर को कंपा देता है। अतएव चेतनाधिष्ठानत्व अनपेक्षित है तो यह भी कहना इस लिए उचित नहीं है कि ये सभी पक्ष के अन्तर्गत ही है।

मीमांसक विद्वान् यह भी नहीं कह सकते हैं कि हम मीमांसकों एवं नैयायकों दोनों को जीव मान्य हैं, अतएव लाघव होने के कारण जीवों को ही धर्माधर्म का अधिष्ठाता मान लेना चाहिये। क्योंकि यह निश्चय है कि जीव में सूक्ष्म, व्यवहित, था दूर रहने वाली वस्तुओं का साक्षात्कार करने की शक्ति नहीं है, और उसके अभाव में तत् तत् कर्मों का फल प्रदान रूप असम्भव है। अतएव सर्वत्र जैसा देखा जाता है वैसी ही कल्पना की जाती है। जीवों के ही समान ईश्वर के भी सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तुओं के साक्षात्कार करने की शक्ति का अभाव निश्चत नहीं है, अतएव अनुमान आदि दूसरे प्रमाण के द्वारा ईश्वर की अशक्ति की सिद्धि असम्भव है।

किञ्च-जो जो कार्य होता है उसका कर्ता अवश्य ही उसके निर्माण करने में समर्थ होता है, अतएव कार्यत्व की सिद्धि के लिए समर्थ कर्तृपूर्वकत्व का होना अनिवार्य है। उस कार्यत्व हेतु के द्वारा कर्ता रूप से सिद्ध होने वाला ईश्वर सम्पूर्ण वस्तुओं के साक्षात्कार तथा उनके नियमन की शक्ति से सम्पन्न ही सिद्ध होता है। मीमांसक विद्वानों ने जो अनैश्वर्य आदि के आपादन के द्वारा धर्म विशेष विपरीत साधनत्व रूप विरुद्धत्व नामक हेत्वाभास कार्यत्व हेतु में बतलाया है, यह उनके अनुमान

के स्वरूप की अनभिज्ञता का फल है। क्योंकि सपक्ष में देखे गये कार्यानुपयोगी सभी धर्म लिङ्गी [कार्य] में नही आते हैं।

कहने का आशय है कि-जब कोई वस्तु किसी के द्वारा बनायी जाती है तो उसको अपने उत्पत्ति के लिए इस बात की अपेक्षा होती है कि उसके कर्ता में उसके निर्माण करने की शक्ति हो, उसको उस कार्य के उपादान; उपकरण आदि का ज्ञान हो। अन्य वस्तु के निर्माण का सामर्थ्य तथा अन्य वस्तु का अज्ञान अपेक्षित नहीं है। क्योंकि ये उसके हेतु नहीं हैं। कार्य के अपने निर्माण का सामर्थ्य तथा अपने उपादान उपकरण आदि के ज्ञान इन दोनों के हेतुओं के ही द्वारा उस कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर केवल संबन्धी रूप मे देखे जाने मात्र से अनावश्यक दूसरे विषयों के अज्ञान आदि को हेतु रूप से कल्पना नहीं की जा सकती है।

टिप्पणी-किञ्च सर्वं चेतनानाँ धर्माधर्मनिमित्तोऽपि–इत्यादि वाक्य का अभिप्राय निम्न प्रकार के अनुमान में है-(१) धर्म और अधर्म सुख-दुख आदि फलों के दाता नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे जड हैं। फल प्रदाता वही होता है जो चेतन होता है। अतएव सभी कर्मों के अनुगुण फल का प्रदाता कोई सभी वस्तुओं का साक्षात्कार करने वाला चेतन अवश्य होगा, वही चेतन ईश्वर हैं।

धर्म-अधर्म अपने साक्षाकार करने वाले चेतन से अधिष्ठित ही होकर कार्य करते हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं, अथवा अपने से भिन्न सभी संसारियों के सुख एवं दुख के उपभोग के साधन

होने के कारण भी वे कार्य करने वाले स्वयं नहीं हो सकते है। ठीक उसी तरह यूपादि निर्माण के साधन भूत वासी (बसूला) आदि अनेक सहकारियो के रहने पर भी चेतन बढ़ई के द्वारा अधिष्ठित हुए विना यूपादि निर्माण के कार्य नहीं कर सकते है।

किञ्च जीव धर्माधर्म के अधिष्ठाता नहीं हो सकते है, क्योंकि वे धर्म अधर्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं।

दर्शनानुगुणैव हि सर्वत्र कल्पना-का अभिप्राय है कि जो वस्तु लोक में देखा जाय तथा जो युक्ति-युक्त हो उसी की कल्पना करना चाहिये। लोक में देखा जाता है कि जीव सूक्ष्म धर्म अधर्म आदि, व्यवहित (छिपी हुई) तथा दूरस्थ वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर सकते है। अतएव उनको सूक्ष्म धर्माधर्म का अधिष्ठाता नहीं माना जा सकता है।

मू० किञ्च क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्तार्थज्ञानादिकं किं सर्वविषयं क्रियोपयोगी ? उत कतिपयविषयम् ? न तावत् सर्व विषयम्' नहि कुलालादिः क्रियमाणव्यतिरिक्तं किमपि न जानाति। नापि कतिपय विषयम्। सर्वेषु कर्तृषु तत्तदज्ञानशक्त्यनियमेन सर्वेषामज्ञानादीनां व्यभिचारात्। अतः कार्यत्वस्यासाधाकानामनीश्वरत्वादीनां लिङ्गित्वप्राप्तेरिति न विपरीतसाधनत्वम्। कुलालादीनां दण्डचक्राद्यधि-

ष्ठानं शरीरद्वारेणैव दृष्टमिति जगदुपादानोपकारणाधिष्ठानमीश्वरस्याशरीरस्यानुपपन्नमिति चेत् न, संकल्पमात्रेणैव परशरीरगत भूत— वेतालगरलाद्यपगमविनाशदर्शनात् कथमशरीरस्य परप्रवर्तन रूपः संकल्प इति चेत्, न शरीरपेक्षः संकल्पः शरीरस्य संकल्प हेतुत्वाभावात्। मन एव हि संकल्पहेतुः तदभ्युपगतमीश्वरेऽपि, कार्यत्वेनैव ज्ञानशक्तिवन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात्।

अनुः— किञ्च की जाने वाली वस्तुओं से भिन्न सभी वस्तु का अज्ञान होना क्रिया के लिए उपयोगी है, अथवा कुछ ही वस्तुओं का अज्ञान होना चाहिए ? सभी विषयों का अज्ञान तो नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता है कि घट आदि के बनाने वाले कुम्भकार आदि घड़ा को छोड़ कर कुछ भी नहीं जानते हों। कतिपय विषयों का भी अज्ञान क्रिया का उपयोगी नहीं हो सकता है। सभी कर्ताओं में एक ही प्रकार के अज्ञान के नियमतः नहीं पाये जाने के कारण सभी अज्ञानों में व्यभिचार पाया जाता है। इसीतरह अनीश्वरत्व 'आदि जो कार्यत्व के साधक नहीं हैं, उनकी लिङ्गी में प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस तरह कार्यत्व हेतु विपरीतत्व दोष से दूषित नहीं माना जा सकता है।

यह जो मीमांसक विद्वानो का कहना है कि पट आदि के कर्ता कुलाल आदि को देखा जाता है कि वे शरीर के द्वारा ही दण्ड चक्र आदि के अधिष्ठाता बनते है, अत एव शरीर रहित ईश्वर जगत् के उपादान, उपकरण आदि का अधिष्ठाता कैसे हो सकता है ? तो यह कहना उचित नहीं है, क्यो कि देखा जाता है कि केवल संकल्पमात्र से मन्त्रज्ञ व्यक्ति दूसरे के शरीर में लगे हुए भूत-वेताल आदि को दूर कर देता है तथा सर्पदंश जन्य सारे विष को भी नष्ट कर देता है । (अत एव अधिष्ठातृत्व के लिए शरीर का होना आवश्यक नहीं है)। इस पर यदि यह कहा जाय कि शरीर के अभाव में दूसरों को प्रेरित करना रूप संकल्प कैसे हो सकता है । (देखा जाता है कि जो शरीर वान् होता है वही संकल्प करता है ?) तो ऐसी बात नहीं है। सकल्प करने के लिए शरीर की आवश्यकता नही होती है, क्योंकि शरीर तो संकल्प का कारण है नही, मन ही संकल्प का जनक है, । [मन के द्वारा ही संकल्प विकल्प का काम होता है] वह मन ईश्वर का भी है, यह हम स्वीकार करते है जिस तरह कार्य को देख कर उसके निर्माणानुकूल ज्ञान और शक्ति के सद्भाव का अनुमान उसके कर्ता में कर लिया जाता है उसी तरह कार्यत्व हेतु के द्वारा उसके कर्ता में ज्ञान की शक्ति से युक्त मन के सद्भाव का अनुमान हो जाता है ।

मू– मनसः संकल्पः सशरीरस्यैव समनस्कत्वादिति

चेत् मनसो [illegible]

[illegible]त्वात् ; अतो विच्छिन्नावयव सन्निवेशविशेषत-
[illegible] पुण्यपापपरवशः परिमितशक्ति
[illegible] प्रभवतीति निखिलभुवननिर्माणचतु-
[illegible]ऽशरीरः सकल-
[illegible] विस्तारविचित्ररचनाप्रप-
ञ्चः [illegible] ईश्वरोऽनुमानेनैव सिद्ध्यति।
[illegible] ब्रह्मणः नैतद्वाक्यं ब्रह्म
[illegible] । किञ्च [illegible] मृद्द्रव्यकु-
लालयोः [illegible] दर्शनेन आकाशादेर्निरवयवद्रव्य
स्य कार्यत्वानुपपत्त्या च नैकमेव ब्रह्म कृत्स्नस्य-
जगतो निमित्तमुपादानञ्च प्रतिपादयितुं शक्नोतीति।

इस पर यदि मीमांसक विद्वान कहें कि—जो जो शरीरी होता है वही वही मनके द्वारा संकल्प करता है, अतएव यदि ईश्वर को मन है तो उसका शरीर भी अवश्य होगा (शरीर रहित ईश्वर को मन नहीं हो सकता।) तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मन नित्य इन्द्रिय है; अतएव (अनित्य) शरीर इत्यादि के छुटजाने पर भी मनके बने रहने के कारण मन और शरीर का ऐकान्तिक (नियत) संबन्ध नहीं माना जा सकता है। इसतरह समनस्कत्व हेतु के द्वारा आत्मा का सशरीरत्व नहीं सिद्ध हो सकता है।

अतएव जिनके अङ्गों के सन्निवेश विशेष अद्भुत हैं उन शरीर, एवं संसार आदि कार्यों के निर्माण करने मे पुण्य पापरूपी कर्मों के अधीन रहने वाला (कर्मवश्य) सीमित ज्ञान एव शक्ति सम्पन्न जीव समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिए शरीर और संसार आदि कार्यों को देखकर यह अनुमान होता है कि इनका कोई ऐसा पुरुष विशेष कर्ता होगा जो सम्पूर्ण जगत का निर्माण करने में समर्थ हो, जिसके ज्ञान, शक्ति एवं ऐश्वर्य, अचिन्त्य एवं अपरिमित हों। जो शरीर रहित हो, तथा अपने केवल सत्य संकल्परूपी साधन के द्वारा अनन्त विस्तार युक्त अद्भुत रचना रूप प्रपञ्च (जगत्) का निर्माण कर सके। वह पुरुष विशेष ही ईश्वर है। इसतरह ईश्वर की सिद्धि तो अनुमान के ही द्वारा हो जाती है।

अतएव अनुमान नामक भिन्न प्रमाण के द्वारा ही निश्चय किये जाने के कारण 'यतो वा इमानि भूतानि, इत्यादि वाक्य जगत् के कारण ब्रह्म को नहीं सिद्ध करते हैं।

किञ्च लोक में देखा जाता है कि घटादि कार्यों के उपादान कारण मृत्तिका आदि द्रव्य होते हैं, [जो अवस्थाश्रयी होते है।] और चेतन कुलाल आदि निमित्त कारण होते है। किञ्च आकाश आदि [काल] जो अवयव रहित द्रव्य हैं। वे कार्य नहीं हो सकते हैं [क्योंकि सावयव द्रव्य ही कार्य होते हैं] अतएव वेद यह नहीं सिद्ध कर सकता है कि अकेला ही ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण है। क्योंकि उपादान कारण और निमित्त कारण की भिन्नता लोक सिद्ध है। अतएव जगत् का

उपादान कारण प्रकृति तथा निमित्त कारण ईश्वर है। यह मानना चाहिये। ॥ सिद्धान्त ॥

मू०–एवं प्राप्ते ब्रूमः। यथोक्तलक्षणं ब्रह्म जन्मादिवाक्यं बोधयत्येव, कुतः ? शास्त्रैकप्रमाणकत्वाद् ब्रह्मणः। यदुक्तं सावयवत्वादिना कार्यं सर्वं जगत्। कार्यं च तदुचितकर्तृविशेषपूर्वकं दृष्टमिति निखिलजगन्निर्माण तदुपादानोपकरणवेदनचातुरः कश्चिदनुमेय इति। तदयुक्तम्। महीमहार्णवादीनां कार्यत्वेऽप्येकदैवैकेन निर्मिता इत्यत्र प्रमाणाभावात्। नचैकस्य घटस्येव सर्वेषामेकं कार्यत्वाम्, येनैकदैवैककर्ता स्यात्। पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृकालैक्य नियमादर्शनात्।

अनु०–नैयायिक विद्वानों द्वारा मीमांसकों के खण्डन पुरस्सर ईश्वर का आनुमानिकत्व सिद्धिरूप पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्त उपस्थित किया जाता है–उपर्युक्त जगज्जन्मादि लक्षण ब्रह्म को 'यतो वा इमानि' वाक्य बतलाता ही है। क्योंकि शास्त्र ही एक ब्रह्म के विषय में प्रमाण है। नैयायिक विद्वानों ने यह जो कहा है कि सावयव होने के ही कारण सारा जगत् कार्य है और जो उस कार्य का कर्ता होता है, वह उसके निर्माणानुकूल ज्ञान और शक्ति से युक्त होता है। इसलिए जगत् रूपी कार्य को देखकर अनुमान होता है कि उसका कर्ता सम्पूर्ण जगत् के निर्माणानुकूल शक्ति

और उसके उपादान उपकरण सम्प्रदान तथा प्रयोजन का जानकार अवश्य होगा । जो ऐसा है वही ईश्वर है । इसतरह ईश्वर की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि होती है । तो नैयायिक विद्वानों का यह कथन युक्ति संगत नहीं है । क्योंकि पृथ्वी, महासमुद्र आदि को कार्य मान लेने पर भी इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि इनका निर्माण किसी एक ने ही एक ही समय में किया है यदि कहें कि जिस तरह एक घट रूपी कार्य का कर्ता एक ही होता है, तथा घट का निर्माण एक ही समय में होता है, उसी तरह जगत् रूपी कार्य के समकाल में ही एक ही कर्ता के द्वारा निर्माण किया जाता है। तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि देखा जाता है कि घट रूपी कार्य के अलग–अलग होने पर उनके कर्ता और काल भी बदलते रहते हैं । अतएव कर्ता और काल की एकता का कोई नियम नहीं है ।

टिप्पणी– 'नचैकस्य घटस्येव' इत्यादि वाक्य मे नैयायिकों का अभिप्राय है कि जो एक कार्य होता है उसका कर्ता और काल एक ही होता है । यहाँ एक कर्ता का अभिप्राय है कि उस कार्य की सामग्री का एक होना । कहने का आशय यह कि जिस तरह एक सामग्री अनेक साध्य नहीं होती है क्योंकि एक कार्य से सम्बन्धित सभी हेतु एक सामग्री कहलाते हैं । किन्तु नैयायिकों का यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि एक घट का एक कार्यत्व जैसा देखा जाता है वैसा परिमित एक अवयवीनिष्ठ कार्यत्व ही एक काल मे तथा एक कर्ताकृत हो सकता

है, किन्तु यह नियम पृथ्वी एवं समुद्र आदि के विषय में लागू नही होता है। किन्च एक घट का निर्माण एक ही कुलाल एक ही समय मे करे यह कोई नियम नहीं है। अनेक कर्ता मिलकर उसका अनेक काल में भी निर्माण कर सकते हैं और (जब कि कार्य भिन्न भिन्न हो तथा महान् हो उस स्थिति में उसके निर्माण काल तथा निर्माता की एकता का कोई नियम रह ही नही जाता है। अतएव पृथिवी आदि अनेक एवं विपुल कार्य का निर्माण एक काल में तथा एक ही कर्ता द्वारा हुआ हो, इसमें कोई प्रमाण नही है।

म० – न च क्षेत्रज्ञानां विचित्रजगन्निर्माणाशक्त्या कार्यत्व बलेन तदतिरिक्त कल्पनायामनेककल्पनानुपपत्तेश्चैक एव कर्ता भवितुमर्हतीति क्षेत्रज्ञानामेवोपचित पुण्य-विशेषाणां शक्तिवैचित्र्यदर्शनेन तेषामेवातिशयिता-दृष्टसम्भावनया च तत्तद्विलक्षण कार्यहेतुत्व सम्भ-वात् तदतिरिक्तात्यन्तादृष्टपुरुषकल्पनानुपपत्तेः। न च युगपत् सर्वोच्छित्तिः सर्वोत्पत्तिश्च प्रमाणपद-वीमधिरोहतः अदर्शनात्। क्रमेणैवोत्पत्तिविनाशद-र्शनाच्च। कार्यत्वेन सर्वोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्य-मानयोर्दर्शनानुगुण्येन कल्पनायां विरोधाभावाच्च। अतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वस्यानैकान्त्यम्।

पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वं, साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य, सर्वनिर्माण चतुरस्यैकस्याप्रसिद्धेः । बुद्धिमत् कर्तृकत्व मात्रे साध्ये सिद्धसाधनता । सार्वज्ञ्य सर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वम् किं युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम् ? उतक्रमेणोत्पद्यमान सर्ववस्तुगतम् ? युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे कार्यत्वस्यासिद्धता । क्रमेणोत्पद्यमान सर्ववस्तुगतत्वेऽनेककर्तृकत्वसाधनाद्विरुद्धता । अत्राप्यैककर्तृकत्वसाधने प्रत्यक्षानुमानविरोधः शास्त्रविरोधश्च । कुम्भकारो जायते रथकारो जायत इत्यादि श्रवणात् ।

अनुवाद- नैयायिक विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है कि चूंकि क्षेत्रज्ञों (जीवों) में अद्भूत जगत् के निर्माण की शक्ति नहीं है । किन्तु जगत् कार्य है । अत एव उसके कार्यत्व को देख कर ईश्वर से भिन्न कर्ता की कल्पना करने में, अनेक जीवों की जगत् के कर्ता रूप में कल्पना करनी पड़ेगी और किसी एक कार्य का कर्ता एक ही होता है, अत एव अकेला ईश्वर ही जगत् का कर्ता हो सकता है । तो यह भी कहना इसलिए ठीक नहीं है कि देखा जाता है कि जिन जीव विशेषों के अत्यधिक पुण्य बढ़ जाते हैं उनमें विचित्र शक्ति आ जाती है । (जैसे

विश्वामित्र ने दूसरे जगत् की सृष्टि अपनी तपस्या के बल पर करना प्रारंभ कर दी थी। सौभरी ऋषि ने अपना अनेकों शरीर बना लिया था। कर्दम ऋषि ने बहुकाल भोग्य आनन्दमय यथेष्ट विहरणशील विमानमय लोक ही बना लिया था। यह न्याय्य भी है कि धर्मी की अपेक्षा धर्म की कल्पना उचित मानी जाती है। अत एव जीवातिरिक्त ईश्वर की कल्पना करने की अपेक्षा यह ही मानना उचित है कि) जब जीवों का ही पुण्य रूपी अदृष्ट अत्यधिक बढ़ जाता है तब वे उसी के द्वारा इन विलक्षण कार्यों की सृष्टि कर डालते हैं। इसके अतिरिक्त जिसको किसी ने कभी नहीं देखा है उस ईश्वर की कल्पना करना उचित नहीं है।

किञ्च- समकाल में सम्पूर्ण जगत् का नाश और सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है। यह भी मानना अप्रमाणिक है। क्योंकि लोक में ऐसा नहीं देखा जाता है (कि सभी वस्तुएँ समकाल में ही उत्पन्न और विनष्ट हों) देखा जाता है कि वस्तुएँ क्रम से ही उत्पन्न एवं विनिष्ट होती हैं। जगत् के कार्य होने के ही कारण सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और विनाश दर्शनानुकूल क्रम से ही मानने में कोई विरोध नही है।

अत एव बुद्धिमान एक कर्तृकत्व रूपी साध्य को सिद्ध करने में कार्यत्व हेतु अनैकान्तिकत्व दोष से दूषित है। (क्योंकि देखा जाता है कि रथ गोपुर आदि कार्यो के कर्ता एक नहीं अनेक होते हैं। यदि कार्यत्व हेतु का सर्वशक्तिमान एक कर्ता की सिद्धि साध्य माने तो) पक्ष में अप्रसिद्ध विशेषणत्व नामक

दोष आयेगा। (क्योंकि अग्निमत्त्व के समान सर्वज्ञत्व, सर्व-शक्तिमत्त्व आदि कहीं अन्यत्र नही देखे गये हैं।] तथा दृष्टान्त साध्य से रहित हो जायेगा। क्योंकि सर्व निर्माण चतुर चेतन अत्यन्त अप्रसिद्ध है। कार्य निर्माणानुकूल ज्ञानवान् कर्तृकत्व मात्र कार्यत्व हेतु का साध्य मानने पर हेतु में सिद्धसाधनता नामक दोष आयेगा, क्योंकि बुद्धिमत् कर्तृकत्व तो हम भी स्वीकार करते है।

किसी एक चेतन की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तियुक्तता का साधक यह कार्यत्व हेतु, एक समय में ही उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओ के कर्ता को अथवा क्रम से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं के कर्ता को सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान रूप से सिद्ध करता है ? यदि समान काल में ही उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं के कर्ता को ? माना जाय तो हेतु में असिद्धत्व नामक दोप आयेगा। (क्योंकि सम्पूर्ण जगत् को समकाल में उत्पत्ति और प्रलय होते हैं, इसमें तो कोई प्रमाण है नहीं।) यदि क्रमशः उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओ के कर्ता की सिद्धि माने, तो उसमे उनके अनेक कर्ता सिद्ध हो जायेंगे। अत एव हेतु मे विरुद्धत्व नामक दोष आयेगा।

यदि कहे कि वस्तुओं की क्रम से उत्पत्ति मानने पर भी कार्यत्व हेतु के द्वारा एक कर्तृकत्व की सिद्धि मानने पर प्रत्यक्ष अनुमान, और शास्त्र से विरोध होगा। क्योंकि कुम्भकार उत्पन्न होता है, रथकर उत्पन्न होता है, इत्यादि अनेक कर्ता सुने जाते हैं।

टिप्पणी-- सर्वज्ञ सर्वशक्तियुक्तस्य -- इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि-- पहले यह बतलाया जा चुका है कि कर्तृत्व के व्याप्य भूत कार्यत्व के द्वारा कर्ता-- विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती है। अत एव पक्ष के विशेषणीभूत कार्यत्व कर्तृ विशेष की सिद्धि का यदि नैयायिकों का अभिप्राय हो तो उसका खण्डन इस वाक्य में किया जाता है। किम् युगपत्० । इत्यादि अर्थात् पक्ष के प्रकर्ष के अधीन होने वाला हेतु का वैशिष्ट्य दो प्रकार का होता है १- देखे जाने वाले पृथिवी आदि विपुल कार्यों की समान काल में उत्पत्ति के द्वारा अथवा २- क्रमशः उत्पन्न होने वाले त्रिकालवर्ती कार्यों की अनन्तता के द्वारा। अर्थात् नैयायिक विद्वान् अनुमान का स्वरूप कैसा मानते हैं ?

पृथिवी पर्वत आदि किसी एक कर्ता के द्वारा निर्मित हैं, क्योंकि वे समकाल में ही उत्पन्न होने वाले कार्य हैं, यह १ अथवा त्रैकाल्यवर्ती सारी वस्तुओं के कार्य होने के कारण इनका कर्ता कोई एक ही है, यह अनुमान का स्वरूप मानते हैं ? पहले पक्ष का खण्डन यह कह कर किया गया है कि सभी वस्तु की एक ही समय में उत्पत्ति होती हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और क्रमशः जगत् की वस्तुओं की उत्पत्ति का कर्ता एक नहीं हो सकता है। क्योंकि एक कुम्भकार भले ही हजारों जन्म लेकर हजारों घट का निर्माण कर सकता है, किन्तु तत्समकालवर्ती कुविन्द इत्यादि भी तो उससे भिन्न कर्ता हैं जो पटादि का निर्माण करते हैं। अत एव अनेक कर्ता तो सिद्ध ही हो गये ।

अत्राप्येककर्तृ कत्वसाधने०- इत्यादि वाक्य का आशय है कि- यदि नैयायिक माने कि यह कार्यत्व हेतु एक विशिष्ट कर्ता को सिद्ध करता जो है भूत भविष्य वर्तमान सभी काल के कार्यों का निर्माण करता है, तो यह इसलिए नहीं माना जा सकता है कि ऐसा मानने में तीन प्रकार के विरोध होंगे (१) प्रत्यक्ष विरोध -- देखा जाता है कि भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों घटों के का निर्माण एक ही कुम्भकार नहीं करता है। एक ही कुम्भकार सभी, घट, पट, मठ, आदि कार्यों का निर्माण नहीं करता है। अत एव वह कर्ता कैसे सभी काल के कार्यों का निर्माण कर्ता सिद्ध होगा। २- अनुमान विरोध- हम अनुमान करते हैं कि इस द्वीप के-ही घड़े के समान द्वीपान्तर के घड़े का निर्माण करने वाला दूसरा कुम्भकार होगा। क्योंकि वह इसके व्यापार का विषय नही बन कर भी घड़ा है। द्वीपान्तरवर्ती घट के निर्माण के साधन इसघट के निर्माण के साधन से भिन्न होगें, क्योंकि ये ही साधन वहाँ तो जायेंगे नहीं। ३- शास्त्र विरोध - शास्त्रों में अनेक कार्यों के निर्माता अनेक बतलाये गये हैं। घट का निर्माता कुम्भकार और रथ का निर्माता रथकार बतलाया गया है। अत एव भिन्न भिन्न कार्यों के निर्माता भिन्न होंगे।

मूल— अपि च— सर्वेषां कार्याणां शरीरादीनां सत्त्वादिगुण कार्यरूप गुणाद्यन्वय दर्शनेन सत्त्वादिमूलत्वमवश्याश्रयणीयम्। कार्य वैचित्र्य हेतुभूताः कारणगता विशेषाः सत्त्वादयः। तेषां कार्याणां तन्मूलत्वा

पादनं तद्युक्तपुरुषान्तःकरण विकारद्वारेण । पुरुषस्य च तद्योगः कर्ममूल इति, कार्यविशेषारम्भायैव; ज्ञानशक्तिवत् कर्तुः कर्मसंबन्धः कार्यहेतुत्वेनैवावश्याश्रयणीयः, ज्ञानशक्तिवैचित्र्यस्य च कर्ममूलत्वात् इच्छायाः । कार्यारम्भहेतुत्वेऽपि बिषयबिशेषविशेषितायास्तस्याः सत्त्वादिमूलत्वेन; कर्मसंबन्धोऽवर्जनीयः, अतः क्षेत्रज्ञ एवकर्तारः न तादृग्लक्षणः कश्चिदनुमानात् सिद्ध्यति ।

दूसरी बात यह है कि--- जितने कार्य हैं उन सबों का सत्त्व आदि गुणों का कार्य सुख दुःख आदि का संबन्ध अवश्य रहता है। अत एव उनको सत्त्वादि मूलक अवश्य मानना चाहिए। अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि शरीर आदि कार्यों में जो विचित्रता है वह कारण में होने वाली सत्त्वादि की विशेषता के ही कारण। (क्योंकि नियम है कि कारण के ही गुण कार्य में आते हैं।) सत्त्वादि युक्त पुरुष के अन्तः करण में होने वाले विकार के ही माध्यम द्वारा शरीर आदि कार्य सत्त्वादि मूलक सिद्ध होते हैं। और पुरुष का सत्त्वादि गुणों से संबन्ध अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही होता है। इस तरह कार्य विशेष के निर्माण के ही लिए ज्ञान एवं शक्ति सम्पन्न कर्ता का कर्मों से सम्बन्ध होता है यह, कार्य रूपी हेतु को देख कर अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये। कर्ता के ज्ञान एवं

शक्ति में जो विचित्रता पायी जाती है वह कर्म की विचमता के ही कारण होती है। यद्यपि पुरुष की इच्छा ही कार्य के निर्माण करने के कारण हैं फिर भी (सर्ग, स्थित, प्रलय आदि) विषयों से विशेषित को अपना विषय बनाने के कारण निश्चय ही सत्त्वादि मूलक सिद्ध होता है फलत कर्ता का कर्मवश्यत्व अवश्य स्वीकार करना होगा। (और कर्मवश्य जीव ही होते है। नैयायिकों के अभिमत ईश्वर तो कर्मवश्य है नही अत एव) जीव ही जगत् के कर्ता हैं, उनसे विलक्षण किसी दूसरे पुरुष (ईश्वर) की अनुमान के द्वारा सिद्धि नही होती है।

टिप्पणी– आप च० इत्यादि– देखा जाता है कि जितने शरीर आदि कार्य होते हैं उनका सुख दुख मोह से अवश्य संबन्ध होता है। शास्त्रो में बतलाया गया है कि जिस समय सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण को अभिभूत करके उद्रिक्त होता है, उस समय शरीर को सुख का अनुभव होता। शरीर हल्का लगता है, ज्ञान बढ़ जाता है, और अनुकूल प्रतीत होती है। रजोगुण के उद्रिक्त होने पर मन चञ्चल हो जाता है। क्रोध आदि होते हैं। इसी तरह तमोगुण के उद्रिक्त होने पर ही मोह उत्पन्न होना है। अतएव शरीर आदि कार्यों का संबन्ध सत्त्व आदि गुणों से अवश्य मानना होगा। कार्य शरीर आदि में जो विचित्रता होती है, इसका कारण है कि उसके उपादान कारण की तथा निमित्त कारणों की उनमें सत्वादि गुणों की विशेषता होती है। नियम है कि-'कारण गुणाः कार्यगुणानारभन्ते।'

अर्थात् कारण के विशेष गुण कार्य में आ जाते हैं। जब कर्ता पुरुष के हृदय मे विकार उत्पन्न होता तब ही वह सृष्ट्यनुकूल व्यवहार करता है। और वह अपने पूर्वकृत कर्मो के ही अनुसार कार्यों में प्रवृत होता है। जो जैसा कर्म किये रहता है उसी के अनुसार उसमे ज्ञान और शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति मे यदि ईश्वर को जगत् कर्ता माना जाय तो उसको भी कर्मवश्य तथा सत्त्वादिगुण युक्त मानना होगा।

यदि कहे कि सृष्टि के लिए तो इच्छा ही आवश्यक है, परमात्मा अपनी इच्छा से ही जगत् की सृष्टि आदि कार्यों को किया करता है, तो ऐसा मान लेने पर कार्य नहीं चलता है। ईश्वर जगत् को सृष्टि को जब अपनी इच्छा का विषय बनायेगा उस समय तो वह अवश्य ही रजोगुण सम्पन्न होगा। जिस समय पालन को अपना विषय बनायेगा उस समय सत्व गुण उसम उद्रिक्त होगा। ऐसे ही प्रलय को अपनी इच्छा का विषय बनाने पर उसे तमोगुण से युक्त मानना होगा। और सत्त्वादि गुण सयुक्त होने पर उसमें कर्मवश्यत्व अवश्य मानना होगा। अतएव अच्छा है कि सौभरी, विश्वामित्र आदि जैसे जीवों को ही जगत् का कर्ता मान लिया जाय।

मू०— भवन्ति च प्रयोगाः– तनुभुवनादिकम् क्षेत्रज्ञ कर्तृकम्; कार्यत्वात्, घटवत्। ईश्वरः कर्ता न भवति, प्रयोजनशून्यत्वात् मुक्तात्मवत्। ईश्वरः

कर्ता न भवति, अशरीरत्वात् तद्वदेव । मैं च क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः तत्राप्यनादेः सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावात् । विमतिविषयः कालोन लोकशून्यः कालत्वात् वर्तमानकालवत् ।

अनु०-जीवों के जगत् कर्तृत्व के साधक निम्न प्रकार से तीन अनुमान होते हैं-

(१) शरीर; संसार, आदि जीवकृत हैं, क्योंकि वे कार्य है। जो जो कार्य होता है वह जीवकृत होता है घट के समान। (२) ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका जगत् के निर्माण में कोई प्रयोजन नहीं है। ठीक इसीतरह जिस तरह प्रयोजन शून्य मुक्तात्मा जगत् की सृष्टि नहीं करता है। (३) ईश्वर इस लिए भी जगत् का कर्ता नहीं माना जा सकता है कि मुक्तात्माओं के ही समान वह शरीर हीन है। (अतएव जीव ही जगत् के कर्ता सिद्ध होते हैं।)

यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जीव भी तो सदा अपने शरीर से संबद्ध नहीं रहा करते हैं, अतएव शरीरत्व के अभाव को कर्तृत्व का व्याघातक नहीं माना जा सकता है। तो यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जीवों का अनादि काल से ही सूक्ष्म शरीर से संबन्ध रहा करता है।

किञ्च-विवादास्पद काल कभी संसार से रहित नहीं होता है वर्तमान काल के ही समान। (अतएव समकाल में ही प्रलय और सृष्टि भी नहीं मानी जा सकती

है। जिस तरह तूफान आदि के आने पर कहीं की पृथ्वी धस जाती है, उसी तरह कभी अधिक मात्रा में इस तरह की हानि होने को ही प्रलय कहते हैं।

मू०—अपि च किमीश्वरः सशरीरोऽशरीरोवा कार्यं करोति? न तावदशरीरः, अशरीरस्य कर्तृत्वानुपालब्धे। मानसान्यपि कार्याणि सशरीरस्यैव भवन्ति; मनसो-नित्यत्वेऽपि अशरीरेषु मुक्तेषु तत्कार्यादर्शनात्। नापि सशरीरः। विकल्पासहत्वात्। तच्छरीरं किं नित्यम्? उतानित्यम्? न तावन्नित्यम्, सावयवस्य तस्य नित्यत्वे जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधादीश्वरासिद्धेः। नाप्यनित्यम्, तद्व्यतिरिक्तस्य तच्छरीरहेतोस्तदा-नीमभावात्। स्वयमेव हेतुरितिचेत्, न अशरीर-स्य तदयोगात्। अन्येन शरीरेण सशरीर इति चेत्, न अनवस्थानात्। स किं सव्यापारो वा निर्व्यापारो वा? अशरीरत्वादेव न सव्यापारः। नापि निर्व्यापारः कार्यं करोति। मुक्तात्मवत्। कार्यं जगदि-च्छामात्रव्यापारकर्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्ध। विशेषणत्वम्, दृष्टान्तस्य च साध्यहीनता। अतो दर्शनानुगुण्येनेश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति

शास्त्रैक प्रमाणक: परब्रह्म भूत: सर्वेश्वर: पुरुषोत्तम; ।

अनुमान—दूसरी बात यह है कि ईश्वर शरीर से युक्त होकर जगत् निर्माण का कार्य करता है अथवा शरीर रहित होकर? शरीर रहित ईश्वर को कर्ता नहीं माना जा सकता है; क्योकि कहीं भी शरीर रहित कर्ता की उपलब्धि नहीं होती है। और मानसिक कार्य भी शरीर से युक्त ही व्यक्ति करता है; क्योंकि देखा जाता है कि यद्यपि मन नित्य द्रव्य है फिर भी मन से युक्त और शरीर से रहित मुक्त जीव जगत् के कर्ता नहीं बनते है।

शरीर से युक्त ईश्वर को भी जगत का कर्ता नही माना जा सकता है, क्य कि विकल्प करने पर यह ध्वस्त हो जायेगा। वह इस तरह से कि- वह ईश्वर का शरीर नित्य है? कि अनित्य? उसे नित्य नही कहा जा सकता है क्योकि ईश्वर के सावयव शरीर को नित्य मानने पर, सावयव जगत् को भी नित्य मान लेने में कोई विरोध नहीं होगा) फिर जगत के नित्य होने पर ईश्वर की ही सिद्धि नहीं हो सकती है। (क्योंकि जगत को अनित्य ही तो मानकर उसके कर्ता रूप से नैयायिक विद्वान ईश्वर को जगत् का कर्ता मानते हैं। ईश्वर के शरीर को अनित्य भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि अनित्य मानने पर तो सृष्टि काल में ईश्वर को छोड़कर उसके शरीर का कोई हेतु रहता ही नही है।

यदि कहें कि ईश्वर अपने शरीर का हेतु स्वयं ही है तो यह भी नही कह सकते हैं, क्योंकि शरीर रहित ईश्वर शरीर रूपी कार्य का निर्माता नहीं हो सकता है। यदि कहें कि वह अन्य शरीर के द्वारा शरीरी बन जाता है तो फिर इस शरीर का भी कारण बतलाना होगा। और जिसको उसका कारण मानेंगे उसका भी कारण बतलाना होगा। इस तरह अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था होगी। (यदि कहें कि प्रामाणिक परम्परा दोषावह नही होती है तो भी ईश्वर को शरीरी मानने पर उसके कर्मवश्यत्व का प्रसङ्ग होगा।

किञ्च शरीर रहित ईश्वर कोई व्यापार (कार्य) करता है अथवा नहीं? शरीर रहित होने के कारण व्यापार युक्त तो नहीं हो सकता है। निर्व्यापार होकर भी वह जगत् की सृष्टि रूप कार्य नहीं कर सकता है, मुक्तात्मा के समान। यदि जगत् रूप कार्य की सिद्धि ईश्वर की केवल इच्छा से कृत मान लें तो फिर पक्ष में अप्रसिद्ध विशेषणता नामक दोष आयेगा। और दृष्टान्त भी साध्य हीन हो जायेगा। अतएव नैयायिक प्रोक्त दर्शनानुगुण (लोकसिद्ध) ईश्वरानुमान का खण्डन लोक सिद्ध न्यायों के द्वारा ही हो जाता है। इसलिए मानना चाहिये कि परब्रह्म स्वरूप सर्वेश्वर पुरुषोत्तम की सिद्धि केवल शास्त्र के द्वारा ही होती है। अनुमानके द्वारा नहीं।

टिप्पणी—दर्शनानुगुण्येनेश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतम्। का तात्पर्य है कि नैयायिक विद्वानों ने अपने पूर्वपक्ष के

प्रारम्भ में बतलाया था कि लौकिक न्यायों से ही ईश्वर की सिद्धि अनुमान के द्वारा होती हैं, उसका खण्डन यहाँ पर लौकिक न्यायों के अनुसार ही किया गया है। और बतलाया गया कि केवल अनुमान के बल पर ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतएव ईश्वर की सिद्धि शास्त्र के द्वारा ही माननी चाहिए। शास्त्र के द्वारा ज्ञात ही ईश्वर का अनुमान किया जाता है। इस तरह अज्ञात ज्ञापक होने के कारण ईश्वर में शास्त्र की प्रामाणिकता माननी चाहिए।

मू०-शास्त्रंतु सकलेतर प्रमाण परिदृष्टसमस्त वस्तु विसजातीयम्, सार्वज्ञ्य सत्यसंकल्पत्वादि मिश्रानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरन्निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपं प्रतिपादयतीति न प्रमाणान्तरावसितवस्तुसाधर्म्यप्रयुक्तदोषगन्धप्रसङ्गः। यत्तु निमित्तोपादानयोरैक्यमाकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वं चानुपलब्धमशक्यप्रतिपादन मित्युक्तम्: तदप्यविरुद्धमिति, 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्,' (ब्र० सू० १।४।२३) "न वियदश्रुतेः" (ब्र० सू० २।३।१) इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते। अतः प्रमाणांतरागोचरत्वेन शास्त्रैकविषयत्वात् "यतोवाइमानि" इति वाक्यमुक्तलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादयतीति सिद्धम्।

॥इतिशास्त्रयोनित्वाधिकरणम्॥

हिन्दी श्रीभाष्य के विशिष्ट सहयोगी

१-श्री १००८ श्री स्वामी देवनायकाचार्य जी महाराज (अध्यक्ष)
श्री वैकुण्ठनाथ देव स्थान ट्रस्ट बक्सर १००० रु०

२-श्री गंगाधर डालमिया चेरिटेबुल ट्रस्ट चाणिन टोला
गया, (बिहार) १००० रु०

३-श्री सेठ विश्वनाथ जी डालमिया चपिन टोला
गया, (बिहार) ५०१ रु०

हिन्दी श्रीभाष्य के १०१ रुपये के सहयोगियों के नाम

४-श्री १००८ स्वामी रामानन्द परमहंस जी महाराज राधाकृष्ण
मन्दिर ग्रा० पो० बेहटा जंगल (शाहजहाँपुर) उ० प्र०

५-श्री बैजनाथ प्रसाद पता- ब्याहुत आभूषण भण्डार, साहबगंज
छपरा सारन

६-श्री सेठ रामगोविन्द पोद्दार साहेबगंज पो० छपरा,
जिला सारन, (बिहार)

७-शिव जी तिवारी १८ महर्षि देवेन्द्र रोड कलकत्ता-७

८-श्री स्वामी सत्यनारायणाचार्य मु० पो० जयसिंह नगर
जि० सहडोल (म० प्र०)

९-श्री निवासाचार्य विद्वान् श्री वैकुण्ठनाथ मन्दिर अलोपीबाग
प्रयाग (उ० प्र०)

१०-श्री रंगाचार्य स्वामी जी पो० सितेपुरा, जिला सतना
(म० प्र०)

११-श्रीमान् व्यास्थापक महोदय श्री राम मन्दिर कमेटी
बल्लारपुर गांधी चौक जि० इन्द्रपुर (महाराष्ट्र)